प्रणव-बोधः

प्रणवः सर्ववेदेषु

साधना सदन, शंकराचार्य चौक, कनखल, हरद्वार
फोन : 0133-426186

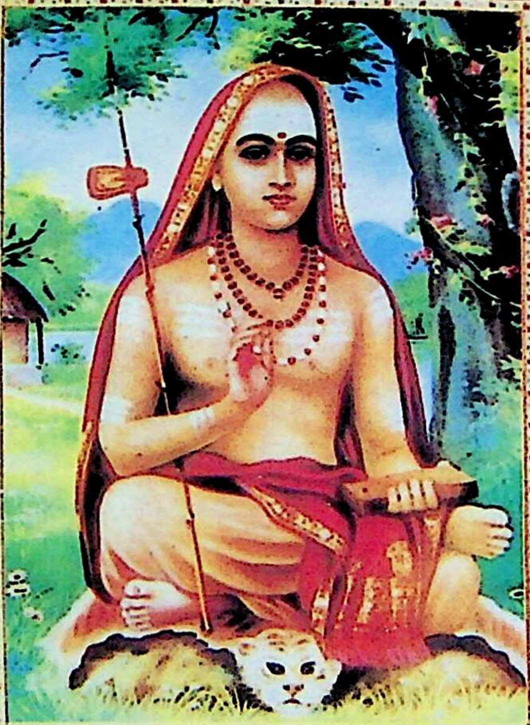

भगवत्पाद जगद्गुरु

श्री आद्य शंकराचार्य जी

प्रणव बोधः

श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यकृतः

ॐकारः सर्ववेदानां सारस्तत्त्वप्रकाशकः।
तेन चित्तसमाधानं मुमुक्षूणां प्रकाश्यते।।

(श्रीमत्सुरेश्वराचार्यः)

-: व्याख्याकार :-

अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर त्यागमूर्ति

श्री स्वामी गणेशानन्दपुरी जी महाराज

卐 卐 卐 卐 卐

पूज्य त्यागमूर्ति महामण्डलेश्वर

स्वामी गणेशानन्दपुरी जी के ७५वें

वर्ष के शुभ अवसर पर प्रकाशित

-: प्रकाशक :-

श्री देवकुमार लोकूमल वाधवानी

प्रेमकुटीर १७७, मरीनड्राइव, मुम्बई - २०

प्रकाशक :-

श्री देवकुमार लोकूमल वाधवानी

प्रेमकुटीर-177, मरीनड्राइव

मुम्बई - 20

श्री हनुमान जयन्ती - संवत् २०५५ (अप्रैल सन-१९९८)

तृतीय संस्करण - १००००

प्राप्ति स्थान :-

साधना सदन

शंकराचार्य चौक

कनखल (हरिद्वार)

फोन : ०१३३-४२६१८६

मुद्रक :-

साधना प्रिटिंग प्रेस, बटाला आश्रम, हनुमानगढ़ी,

कनखल, हरिद्वार फोन : 424672

ॐ

सर्वस्य प्रणवोह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।
एवंहि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्।।

वक्तव्य

नगद्गुरु आद्यशङ्कराचार्य भगवान् ने मुमुक्षुओं के लिए एक सूत्ररूप निबन्ध लिखा है। यह निबन्ध माण्डूक्योपनिषद् के आधार पर लिखा गया है। "माण्डूक्यमात्रमेवालं मुमुक्षुणां विमुक्तये" अर्थात् एकमात्र माण्डूक्योपनिषद् ही मुमुक्षुओं की मुक्ति के लिए पर्याप्त है एवं मुक्ति का साधन ब्रह्म और आत्मा का अभेद ज्ञान है। अत: यह निबन्ध सूत्ररूप होने पर भी अधिकारी के ब्रह्मात्मैक्य बोध का पूर्ण साधन है। इसीलिए मुमुक्षु परमहंस संन्यासी लोग इसका नित्य नियम से अभ्यास करते हैं। एवं उक्त अभ्यास के फलस्वरूप आत्मसाक्षात्कार करके कृतार्थ हो जाते हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में ओङ्कार (प्रणव) की व्याख्या के द्वारा बोध कराया गया है। प्रस्तुत निबन्ध तद्रूप होने से प्रणव के द्वारा ही बोध का साधन है। ओङ्कार को ही प्रणव कहते हैं। क्योंकि "प्रस्तूयते ब्रह्म आत्मरूपेण येन स प्रणव:" अर्थात् जो परब्रह्म परमात्मा को आत्मरूप से प्रस्तुत करे उसको प्रणव कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रणव और ॐ का एक ही अर्थ होता है। प्रणव के द्वारा होने वाले बोध को प्रणव–बोध कहते हैं। प्रणव द्वारा होने वाला बोध परब्रह्म परमात्मा का आत्मरूप से साक्षात्कार है। अत: प्रणव–बोध का अर्थ हुआ ओङ्कार के माध्यम से परब्रह्म परमात्मा का आत्मरूप से साक्षात्कार कराने वाला ग्रन्थ।

यह "प्रणव–बोध" पंचीकरण के नाम से प्रसिद्ध है। क्योंकि इसके आरम्भ में पंचीकृत शब्द आया हुआ है। अतः जिस प्रकार 'महिम्न' शब्द प्रारम्भ में आने से 'धूर्जटि स्तोत्र' 'महिम्न स्तोत्र' नाम से प्रसिद्ध है।. 'ईशावास्य' शब्द प्रारम्भ में आने से यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। उसी प्रकार 'प्रणव–बोध', के प्रारम्भ में पंचीकृत शब्द आने से पंचीकरण के नाम से प्रसिद्ध है। वस्तुतः इसका पंचीकरण नाम नहीं हो सकता है। क्योंकि आचार्य ने ॐ से आरम्भ कर "इति ॐ" पर समाप्त किया है और वार्तिककार ने "प्रणवः सर्वभूतानां सारस्तत्त्व प्रकाशकः। तेन चित्तसमाधानं मुमुक्षूणां विधीयते।।"

ऐसा आरम्भ में ही लिखा है। अतः उक्त दोनों आचार्यों के वचन भी 'प्रणव–बोध' नाम का समर्थन करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल 'पंचीकरण' एक अंश मात्र है—गौण वस्तु है, अतः ग्रन्थ का नाम नहीं हो सकता है।

'प्रणव–बोध' पर स्वामी आनन्दगिरि जी की व्याख्या है। आचार्य के प्रस्थानत्रय भाष्य पर भी उनकी प्रामाणिक व्याख्या है। अतः हमने आनन्दगिरि की व्याख्या के आधार पर ही मुख्य रूपसे प्रणव–बोध की व्याख्या की है।

प्रणव–बोध पर श्री सुरेश्वराचार्य का वार्तिक भी है। आनन्द गिरि व्याख्या तथा वार्तिक पर भी टीकायें हैं। उक्त वार्तिक एवं टीकाओं से भी कुछ सहायता ली गई है। गुजराती में भी एक पंचीकरण नाम की पुस्तक है उससे भी कहीं–कहीं सहायता ली गई है। और भी जिन ग्रन्थों से सहायता मिली है हम उन सभी ग्रंथकारो के आभारी हैं।

"अथातः परमहंसाना समाधिविधिव्याखयास्यामः सच्छब्द

वाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म। ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोअहंकारः। अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पंचमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्। पञ्चानांभूतानामेकैकं द्विधा विभज्य स्वार्धभागं विहायार्द्धभागं–चतुर्धाविभज्येतरेषु योजते पंचीकरणं मायारूपदर्शनमध्यारोपापवादाभ्यां निष्पंचं प्रपच्यते।' अर्थात् "अब हम परमहंसो के समाधि विधि की व्याख्या करेंगे। सत् शब्द वाच्य अविद्या विशिष्ट ब्रह्म से अव्यक्त; अव्यक्त से महत्तत्व, महत्तत्त्व से (समष्टि) अहंकार, (समष्टि) अहंकार से पंचतन्मात्रायें, पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूत, पंचमहाभूतों से सम्पूर्ण जगत् होता है। पाँचभूतों में प्रत्येक को दो भागों में विभक्त करके अपने आधे भाग को छोड़कर (शेष) आधे भाग को चार भागों में विभक्त करके दूसरों में मिला देने से पंचीकरण (होता है)। (जो कि) मायारूप दर्शन है। (उसके) अध्यारोप और अपवाद के द्वारा निष्प्रंपच (ब्रह्म) की व्याख्या की जाती है।" प्रणव–बोध के प्रारम्भ में उक्त निबन्ध अधिक उपलब्ध होता है जो कि प्रक्षिप्त है। किसी ने वार्तिक आदि के आधार पर पीछे से जोड़ दिया है। यह बात आनन्दगिरि व्याख्या और वार्तिक की टीका देखने से स्पष्ट हो जाती है। आनन्दगिरि ने ॐ पंचीकृतानि पंचमहाभूतानि से व्याख्या प्रारम्भ की है। वार्तिक के टीकाकार ने कहा है कि आचार्य ने अध्यारोपमात्र का कथन किया है। इसलिए हमने उक्त अंश को छोड़ दिया है, क्योंकि वह मूल प्रणव बोध के अन्तर्गत नहीं है।

आज से ५० वर्ष से भी पहले की बात है संन्यास दीक्षा के अनन्तर जब प्रातः स्मरणीय ब्रह्मलीनमहामण्डलेश्वर स्वनाम धन्य परमश्रद्धेय श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द जी महाराज के आदेश से ऋषिकेश स्थित कैलास आश्रम में प्रस्तुत प्रणव–बोध का अभ्यास कर रहा था उसी समय परम पूज्य स्वामी जी महाराज ने यह भाव प्रकट किया था

कि 'अव्यक्तान्महत्' इत्यादि अंश मूल के अन्तर्गत नहीं होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि उन्हीं सद्गुरुओं की कृपा से मैं इस प्रणव–बोध का विशुद्ध स्वरूप समझ सका हूँ। अतः जो कुछ भी परमार्थ पथ का दिग्दर्शन मैं करा सका हूँ, यह उन्हीं की देन है। उनकी वस्तु उन्हीं के चरणों में समर्पित है मुझे विश्वास है कि उनके कृपा कटाक्ष से पवित्र हुआ यह मंगलमय उनका प्रसाद जिज्ञासुओं को परमशान्ति एवं परम आनन्द प्रदान करेगा।

प्रचलित पाठ से और भी कई स्थानों पर भिन्न किन्तु प्रमाणिक पाठ रखा गया है, जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रकार से है जैसे कि अमात्रप्रकरण में आनन्दगिरि टीका के आधार पर विचार करके ''प्रत्यग्भूत। चैतन्यं ब्रह्मैवाहमस्मि'' के स्थान पर ''ब्रह्मैवाहमस्मिअहं–ब्रह्मास्मि'' यह पाठ रक्खा है। अमात्र प्रकरण में ही प्रचलित पाठ है– अकार उकारे, उकारो मकारे, मकार ओङ्कारे ओङ्कारो ऽहम्येव अर्थात् अकार को उकार में, उकार को मकार में, मकार को ओङ्कार में एवं ओङ्कार को मैं में विलीन करे। प्रमाणिक पाठ रक्खा गया है– 'अकार उकारः उकारो मकारः मकारो ओङ्कारः, ओङ्कारोऽहमेव'। अर्थात्–अकार उकार है उकार मकार है मकार ओङ्कार है, ओङ्कार मैं ही हूँ।

सप्तम्यन्तपाठ की अपेक्षा प्रथमान्त पाठ प्रमाणिक है क्योंकि यद्यपि वार्तिक में विलीन करना कहा है तथापि विलीन करने का मतलब एक को दूसरे में मिलाकर एक करना नहीं है किन्तु एक से भिन्न दूसरे की सत्ता का निषेध करना है। और जब आगे चलकर मैं को चिदात्मा में विलीन करना अर्थात् चिदात्मा से मैं की भिन्न सत्ता का निषेध करना अहं आत्मा साक्षी इस प्रथमान्तपाठ से होता है तो क्या कारण है कि पहले उकार, मकार एवं ओङ्कार का प्रथमान्त पाठ

नहीं रक्खा जाये, भाव यह है कि अकार अर्थात् स्थूल प्रपंच, जाग्रत् अवस्था और विश्व को उकार अर्थात् सूक्ष्म प्रपंच, स्वप्न अवस्था एवं तैजस से भिन्न न समझना ही इस प्रणव–बोध की व्याख्या में वर्णित रीति से अपवाद (भिन्न सत्ता का निषेध) है। तात्पर्य यह है कि अपवाद के लिए स्थूल को सूक्ष्म अवस्था में एवं सूक्ष्म को कारण अवस्था में पहुंचाने की आवश्यकता नहीं होती है। ऐसा करना सम्भव भी नहीं है।

केवल स्थूल आदि की सत्ता सूक्ष्म आदि से भिन्न नहीं है। यह बुद्धि से समझना मात्र होता है। और ऐसा समझने के लिए प्रथमान्त पाठ ही उपयुक्त है। जैसा कि प्रणव–बोध वार्तिक की टीका "वार्तिकाभरण" में स्पष्ट संकेत किया है कि "मकार" "ॐकार" इत्यादि प्रथमान्त पाठ ही उपयुक्त है।

ग्रन्थ के अन्त में ब्रह्मात्मैक्य बोधक "तत्त्वमसि[1]" "ब्रह्माहमस्मि[2]" "प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म[3]", "अयमात्मा ब्रह्म[4]" ये चारों महावाक्य उपलब्ध होते हैं, जिसमें दो का रूप कुछ बदला हुआ है और किसी पाठ में "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म[1]", "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म[2]", "आत्मैवेदं सर्वं[3]", "सर्व खल्विदं ब्रह्म[4]", ये चार उपनिषद् वाक्य और उपलब्ध होते हैं। किन्तु प्रमाणिक पाठ में केपल 'अमयात्मा ब्रह्म' इस एक ही महावाक्य को प्रमाणरूप में रखा है क्योंकि 'प्रणव–बोध' माण्डूक्योपनिषद् के आधार पर है और माण्डूक्योपनिषद् में 'अयमात्मा ब्रह्म' यही एक महावाक्य आया है। दूसरी बात यह है कि जिसको हमने मुख्य प्रमाण माना है वे स्वामी आनन्दगिरि जी महाराज इसकी अवतरणिका में लिखते हैं–"जीवब्रह्मणोरैक्ये श्रुति प्रमाणयति"– अयमात्याब्रह्मेति।" और इसी की व्याख्या करते हैं।

अत: प्रमाणिक पाठ का निश्चय करके ''अयमात्मा ब्रह्म'' केवल एक ही महावाक्य प्रमाणरूप से उधृत किया है। ग्रन्थ की समाप्ति पर ''पंचीकरणं भवति'' यह पाठ पूर्वोक्त प्रकार से प्रक्षिप्त है क्योंकि जब ''पंचीकरण'' नाम ही नहीं है तो अन्त में 'पंचीकरणं भवति' यह कहने का प्रसंग ही नहीं उपस्थित होता है। अत: उसको छोड़कर केवल ''इति ॐ'' इतना ही पाठ रखा है, क्योंकि आचार्य ने ॐ पर ही समाप्ति की है। एक आवश्यक बात यह है कि कुछ प्रमुख शब्दों के अर्थ समझने में कभी–कभी भ्रम या संशय उत्पन्न हो जाया करता है। अत: उनके अर्थ को स्पष्ट समझ लेना चाहिए जिससे ग्रन्थार्थावधारण में सुगमता हो। जैसे कि अव्याकृत, हिरण्यगर्भ एवं विराट् शब्द का अर्थ कभी कोई क्रमश: समष्टिकारण, सूक्ष्म एवं स्थूल उपाधि वाला समझता है। तो कभी क्रमश: केवल कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल उपाधि को ही समझता है। इसी प्रकार कोई संशय में पड़ा रहता है कि उक्त शब्द उपाधि के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं या उपाधि वाले के अर्थ में? वास्तविक बात यह है कि केवल उपाधि एवं उपाधि वाले दोनों ही अर्थों में उक्त शब्दों का प्रयोग होता है। प्रसंगानुसार यथा योग्य अर्थ लगाया जाता है। दूसरी बात यह है कि जब अव्याकृत, हिरण्यगर्भ एवं विराट् उपाधि विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हों तो प्राज्ञ, तैजस एवं विश्व शब्द का क्रमश: इनके साथ एकता का भाव रखना चाहिए। इससे ''प्रणवबोध'' समझने में सुगमता होगी।

जिज्ञासु जगत् में एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि जब आकाशादिक्रम से पाँचो भूतों की उत्पत्ति हुई और क्रमश: एक–एक गुण बढ़ते गये तो सूक्ष्म वायु आदि का केवल स्पर्शतन्मात्रादि स्वरूप क्यों बतलाया जाता है। इसका उत्तर यह है कि गुण अधिक होने पर भी स्वरूप तो एक ही होगा। और वह सूक्ष्म भूतों का स्पर्शतन्मात्रा

आदि ही है। कोई–कोई यह भी एक शंका करते हैं कि किसी वस्तु को विभक्त करने पर वह और सूक्ष्म हो जाती है, पंचीकरण प्रक्रिया के अनुसार आकाशादि भूत विभक्त होकर स्थूल कैसे हो जाते हैं?

इसका उत्तर यह है कि केवल विभक्त होकर स्थूल नहीं होते किन्तु विभक्त होकर मिलने से स्थूल होते हैं। जैसे कि पत्थर को टुकड़े–२ करके विशेष विधि से पीस देने पर वह बारीक (सूक्ष्म) सीमेन्ट बन जाता है किन्तु पानी के साथ मिलने से वही कालान्तर में बड़े–बड़े चट्टानों का भी रूप धारण कर लेता है।

''प्रणवबोध'' अकार मात्रा[1], उकार मात्रा[2], मकार मात्रा[3], अमात्र[4] एवं बोध और मुक्ति[5], इन पाँच अध्यायों या प्रकरणों में पूर्ण होता है। प्रत्येक प्रकरण में अनेक ज्ञातब्य विषय हैं जो उन शीर्षकों द्वारा दर्शाये गये हैं। यद्यपि पुस्तक लिखते समय प्रथम ये शीर्षक नहीं लिखे गये थे किन्तु बाद में जब उसकी आवश्यकता दिखाई दी तब पूरी पुस्तक में योग्य स्थान पर शीर्षक रख दिये गये। उन शीर्षकों को विषयानुक्रमणिका के रूप में पुस्तक के प्रारम्भ में रख दिया गया है। जिससे उन–उन विषयों की जानकारी प्राप्त करने में पाठकों को सुविधा हो।

व्याख्या से पूर्व केवल शब्दार्थ एवं शब्दार्थ से भी प्रथम केवल मूलमात्र रखा गया है। जिससे ग्रन्थ की संक्षिप्तरूप समझ होने से व्याख्या समझने में सुगमता हो जाए।

सर्वेभवन्तुसुखिन: सर्वे सन्तुनिरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तुमाकश्चिद्दुखभाग्भवेत्।।

सबका सदा प्रत्यक्ष आत्मा
त्यागमूर्ति स्वामी गणेशानन्द महामण्डलेश्वर

गणेशानन्दपुरी

प्रणव–बोध की सूची

विषय	पृष्ठ सं०
प्रणव माहात्म्य	१
प्रणव–बोध (मूल)	२
प्रणव–बोध (शब्दार्थ)	३
अकार मात्रा	
प्रणव–बोध (व्याख्या)	७
महिमा, उपक्रम	७
ईश्वर और जीव	७
बोध और उसका फल	८
एक अंश में, सृष्टि क्रम	९
क्रमशः गुणाधिक्य, गुणों के अनुसार स्थूलता	१०
स्थूल में ही तारतम्य	११
पंचीकरण	११
ब्रह्माण्ड, चतुर्दशभुवन	१२
भूलोक	१२
चतुर्विध प्राणी, चौरासी लाख एक योनियाँ	१३
पच्चीस तत्त्व	१३
पुनः पंचीकरण	१४
गृथ्वी–अस्थि, शोणित,	१५
आलस्य, संकोचन,	१५
कट्याकाश	१५
जल–शुक्र	१५
माँस, कान्ति, चलन,	१६
उदराकाश	१६
तेज–क्षुधा, नाड़ी, मूत्र	१६
उत्क्रमण, हृदयाकाश,	१७
वायु–धावन, त्वचा, स्वेद,	१७
तृषा, कण्ठाकाश	१७
आकाश–शिर	१७
रोम, लाला (लार), निद्रा	१८
प्रसारण	१८
मतान्तर	१८
विराट्, आत्मा का स्थूल शरीर, विराट् वर्णन	१९
विराट् आत्मा नहीं	२०
मूलतः स्पष्टीकरण	२०
व्यवहारिक और पारमार्थिक	२१
कल्पित आवरण	२२
आध्यात्मिकादि का स्वरूप	२२
परस्पर सापेक्ष	२३
आभासभास्य एवं साक्षिभास्य	२४
अभाव भी साक्षिभास्य	२५
आत्मा स्वयं सिद्ध है	२६
जाग्रत अवस्था	२७

विषय	पृष्ठ सं०
अध्यात्म और अधिदैव	२८
अध्यात्मिकादिकोष्ठक	२९
तम और ईश्वर	३२
प्राकृत जगत् नियम बद्ध है	३३
ईश्वर निर्विकार है	३३
मनुष्य से अन्य शास्त्र का अधिकारी नहीं	३४
कोषों का क्रमिक विकास	३५
मानव शरीर की श्रेष्ठता और सफलता	३५
मानव की पूर्णता ऋषि–भाव में	३६
ऋषि को व्यष्टि–समष्टि का भेद भ्रम नहीं	३७
भ्रम का कारण अज्ञान, जाग्रत पुरुष एवं जाग्रत द्रष्टा	३८
अकार वर्णन का उपसंहार	३९
सूक्ष्म शरीर का उपक्रम	४१
हिरण्यगर्भ	४१
वासनाएँ अनन्त हैं	४२
मनुष्य शरीर ही कर्मयोनि है	४३
वासनाओं के छः प्रकार	४४
रजो मिश्रित सत्त्वगुण प्रधान मन	४५

विषय	पृष्ठ सं०
रजः मिश्रित उभय प्रधान मन, तमो मिश्रित रजोगुण प्रधान मन	४६
किंचित तमोगुण मिश्रित सत्त्वगुण प्रधानमन	४७
सत्त्वगुण प्रधान मन	४८
शुद्ध सत्त्व प्रधान मन	४९
आत्मा सदा शुद्ध एवं निर्विकार है	५०
आत्मा में संसार औपाधिक है	५१
जीव का स्वरुप	५२
मनोऽनुसार जीवों के स्वरुप में महान् तारतम्य	५२
अधिष्ठान चेतन, चिदाभास	५३
सूक्ष्म शरीर	५४
सात्त्विकादि अंशों से ज्ञान करणादिकों की उत्पत्ति	५५
सूक्ष्म आकाश का कार्य	५५
सूक्ष्म वायु का कार्य	५५
सूक्ष्म तेज का कार्य	५६
सूक्ष्म जल का कार्य	५६
सूक्ष्म पृथ्वी का कार्य	५६
पंचप्राण–व्यान, समान	५७

विषय	पृष्ठ सं०	विषय	पृष्ठ सं०
उदान, प्राण, अपान	५८	काल विशेष	६९
पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ,	५८	वस्तु विशेष	७०
अन्त:करण पंचक	५८	शरीर और मन का परस्पर	७१
स्फुरण, मन, बुद्धि, चित्त	५९	प्रभाव, योग दर्शन के अनुसार	
अहंकार, आकाशादि तत्त्वों	६०	मन का स्वभाव, मूढ़ावस्था	
के अनुसार ही तत्तद्वृत्तियों		क्षिप्तावस्था, विक्षिप्तावस्था	७२
की प्रधानता		एकाग्र अवस्था	७२
अन्त:करण के दो से पाँच	६१	निरुद्धावस्था, चित्त नदी	७३
तक भेद		अन्त:करण का स्थान, नेत्रे	७४
(केवल) मन, बुद्धि और	६१	जाग्रणम्, कण्ठे स्वप्न:	
चित्त भी अन्त:करण के		जाग्रत में सत्व एवं रज का	७५
पर्याय हैं		विकल्प, स्वप्न में सत्वगुण	
माया के गुणों का स्वरुप	६२	महामत्स्य दृष्टान्त, सुप्तिर्हृदम्बुजे,	७६
एवं कार्य		जीव, आत्मा में ही विश्राम	७६
अन्त:करण भी गुणात्मक है,	६३	पाता है	
वर्ग एवं युग भेद भी गुणों	६३	सप्तदशकं लिङ्गम्, पुर्यष्टक	७७
से है		भौतिकम्	७७
दैव और आसुर, सात्विक मनुष्य	६४	क्षण परिणामिन: सर्वेभावा:	७८
राजस मानव	६५	क्षण प्रध्वंसी, गहराई से	७९
तामस जन	६६	अनुलोम एवं विलोम परिणाम	८०
संसर्गादिवश कदाचित स्वभाव	६७	ब्रह्मा का दिन और रात्रि	८०
विपरीत भी आचरण होता है		सृष्टयादि प्रवाह अनादि अनन्त है	८१
व्यक्ति विशेष का संसर्ग	६८	विनावोध के संसार का अन्त नही	८२
देश विशेष	६८	जीवभाव का भी बिना बोध के	८३
		अन्त नही	

विषय	पृष्ठ सं०	विषय	पृष्ठ सं०
सूक्ष्म समष्टि हिरण्यगर्भ है,	८३	रज्जु सर्प का दृष्टान्त	९७
हिरण्यगर्भ उपाधि विशिष्ट अर्थ में भी, स्वप्न अवस्था	८४	अविद्या सत–असत् उभयरूप भी नही है	९८
पूर्व प्रसंग हितानाम की नाड़ियाँ	८४	अविद्या भिन्न–अभिन्न एवं भिन्नाभिन्न उभयरूप भी नही है	९८
स्वप्न अवस्था में पूर्व प्रसंग	८५		
स्वप्न में इन्द्रियों का काम हितानाम की नाड़ियाँ करती हैं	८६	अविद्या सावयव, निरवय एवं उभयरूप भी नही है	९८
मन का यथार्थ स्वरुप स्वप्न में,	८६	अज्ञान का विषय, आश्रय कौन?	९९
अविद्याग्रस्त का स्वप्न	८७	अज्ञान का विषय ब्रह्म है	१००
विद्या का उत्कर्ष होने पर (वृ०),	८७	अज्ञान के आश्रय में दो पक्ष,	१००
सर्वात्मभावरूपी विद्या के प्रादुर्भाव से (वृ०),	८८	अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है	१००
		अज्ञान का आश्रय जीव है,	१०१
परमलोक और अपरलोक (वृ०)	८८	अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है, इस कथन का तात्पर्य	१०१
तैजस,	८८		
तैजस और हिरण्यगर्भ की एकता	८९	अज्ञान का आश्रय जीव है, इस कथन का तात्पर्य	१०२
उकार–मात्रा का उपसंहार	९०		
जगत के दो भेद	९१	समन्वय,	१०२
कार्य कारणात्मक जगत् ब्रह्म का विवर्त है	९२	अनिर्वचनीय अज्ञान का निर्वचन	१०३
		कर्म और उपासना का ज्ञान के साथ क्रम समुच्चय	१०३
ब्रह्म जगत से परे है	९३		
अविद्या का स्वरुप	९५	सुषुप्ति	१०४
अविद्या सत् नही है	९६	अविद्या वृत्ति	१०५
अविद्या असत् नही है	९६	प्राज्ञ	१०६
सजातीय भेद, विजातीय भेद	९७	प्राज्ञ और ईश्वर की एकता	१०७
द्विविध आवरण	९७	ईश्वर कृपा, गुरुकृपा,	१०८

विषय	पृष्ठ सं०	विषय	पृष्ठ सं०
शास्त्रकृपा, आत्मकृपा	१०८	दु:ख की निवृत्ति एवं जीवन मुक्ति	१३४
व्यवहार में जीव और ईश्वर का भेद	१०८	लेशाऽविद्या एवं विदेह मुक्ति	१३४
मकार का उपसंहार अध्यारोप	१०९	ज्ञानी का अनुभव	१३६
अध्यास और अध्यारोप, अपवाद	११०	त्रिविध अहमर्थ	१३६
द्विविध अपवाद,	११२	अद्वयम्, ब्रह्मैवाहमस्मि,	१४०
कारण से भिन्न कार्य की सत्ता का निषेध रूप अपवाद	११२	अहंब्रह्मास्मि, समाधि—साधन	१४१
उकार से भिन्न अकार की सत्ता का निषेध	११३	संप्रज्ञात समाधि,	१४१
मकार से भिन्न उकार की सत्ता का निषेध	११४	असंप्रज्ञात समााधि	१४१
अधिष्ठान से भिन्न अध्यस्त की सत्ता निषेध रुप का अपवाद	११७	साधन, (दृष्टान्त) स्वर्ण को स्वर्ण तत्त्व का बोध	१४२
बोध और मुक्ति	११९	(दार्ष्टान्त) जीव को परमतत्व का बोध,	१४३
अज्ञान का स्वरुप	११९	तत्त्वज्ञान ही सच्ची समाधि है	१४४
चतुर्विध चेतना	१२२	चार प्रकार का ज्ञान	१४५
ईश्वर सृष्टि	१२४	चतुर्विध ज्ञान की व्याख्या	१४५
जीव सृष्टि	१२४	सबका एकता में ही तात्पर्य,	१४६
जीवेश्वर सृष्टि परस्पर सापेक्ष है	१२५	प्रणव—बोध का उपसंहार	१४६
आत्मबोध की प्रक्रिया	१२६		
अज्ञान	१३२		
द्विविध आवरण, विक्षेप	१३२		
परोक्षज्ञान, अपरोक्षज्ञान	१३३		

अनन्त श्री महामण्डलेश्वर त्यागमूर्ति

श्री स्वामी गणेशानन्दपुरी जी महाराज

(संक्षिप्त जीवनपरिचय)

लेखक - म.म. स्वामी जगदीशपुरी जी

ऋषियों, महर्षियों, त्यागी-तपस्वियों की तपोभूमि उत्तर प्रदेश के जिला-बलिया, ग्राम-चॉदपुर में एक अतिपवित्र परम्परा में प्रादुर्भूत ऋषिरूप बिभूति ने अपने पिता श्री रामनारायण जी एवं माता श्रीमती जानकीदेवी जी के गार्हस्थ्य जीवन को विक्रम सम्वत् १९८०, (सन् १९२३) कार्तिक शुक्ल पंचमी (लाभपंचमी) को सार्थक किया।

जन्म से ही आपके रोम-रोम, रग-रग में त्याग-तप का बीज अंकुरित होने के लिए ऋतु की प्रतीक्षा कर रहा था। यह बीज सत्रह वर्ष तक शरीर क्षेत्र में परिपक्वता पाने के बाद उचित समय व स्थिति पाकर अंकुरित हुआ। होलिकादहन के पश्चात् लकीर के फकीर लोग धुलेडी की धूल उड़ाने में मस्त थे कि एक प्रारब्धी फकीर ने सन् १९४१ को दिन के बारह बजे घर-परिवार के नाते-रिश्तों की धूल उड़ाकर धुलेडी का त्योहार अपूर्व रूप से मनाया।

संसार को असार समझकर, ध्रुव को आदर्श मानकर

त्यागियों-तपस्वियों के मार्ग का अनुसरण किया। जीवन को समुचित दिशा देने के लिए किसी सन्त महापुरुष द्वारा मार्गदर्शन की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि शरीरस्थिति के लिए अन्न, जल की। गुरू की खोज आरम्भ हुई, लखनऊ के महन्त श्री स्वामी शिवचरन गिरी जी महाराज का सानिध्य प्राप्त हुआ। आपके द्वारा ही शास्त्रीय विधि से ब्रह्मचर्यदीक्षा प्राप्त हुई। महन्त स्वामी शिवचरणगिरी जी बोधगयामठ (विहार) की परम्परा के प्रतिष्ठित संत थें।

गुरुदेव की आज्ञानुसार कैलासआश्रम ऋषिकेश में आपका पदार्पण हुआ। कैलासआश्रम में ब्रह्मविद्या के मर्मज्ञ आचार्य स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी "बड़े महाराज जी" से ब्रह्मविद्या का अध्ययन सन् १९४१ से १९४३ तक किया। सन्यास सन् १९४५ में कैलासआश्रम में ही शिवरात्रि के पावन पर्व पर गुरुदेव महामण्डलेश्वर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ स्वामी प्रेमपुरी जी महाराज से ग्रहण किया।

वाराणसी में सन् १९४४-४५ एवं ५१ में निवास कर विद्याध्ययन किया। दर्शनशास्त्र के महान चिन्तक स्वामी शंकरचैतन्य भारती जी के सानिध्य में सन् १९४७ में कनखल (हरिद्वार) में अध्ययन किया। इसके पश्चात् "कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः" के अनुरूप पैदल भ्रमण प्रारम्भ हुआ। हिमालय की कई कठिन यात्रायें पूर्ण करते हुए तिब्बत की अतिकठिन यात्रा मानसरोवर पैदल पूरा किया। इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में आत्मनिष्ठा को परिपक्व किया। तत्पश्चात् आपने उत्तरकाशी में कुछ समय निवास कर कुछ

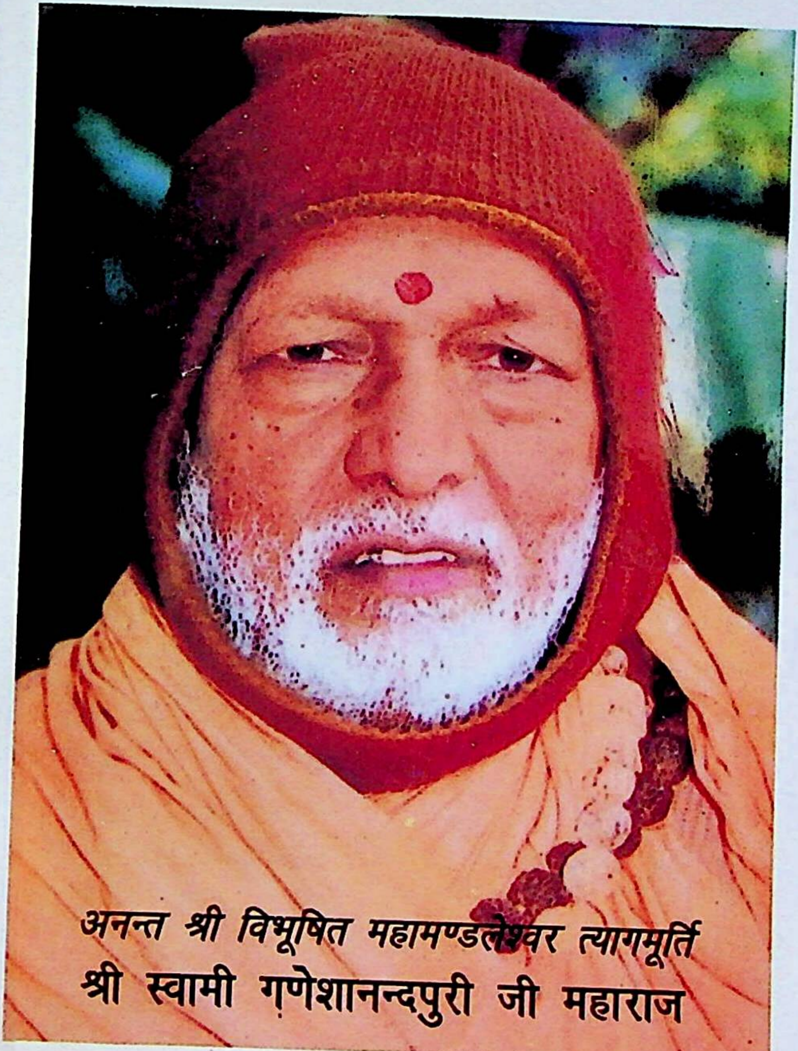

अनन्त श्री विभूषित महामण्डलेश्वर त्यागमूर्ति
श्री स्वामी गणेशानन्दपुरी जी महाराज

ब्रह्मचारियों को अनुभूत वेदान्त विद्या का अध्ययन करवाया। जिन्होंने आगे चलकर देश के प्रख्यात विद्वानों में विशिष्ठ स्थान प्राप्त किया। उत्तरकाशी से आत्मजिज्ञासुओं को स्वाध्याय की परम्परा प्रारम्भ हुई जो आज तक गंगा प्रवाहवत् चल रही है। "साधुजन रमता भला" उक्ति के अनुसार आप श्री ने उत्तरकाशी भी छोड़ दिया और देश के विभिन्न प्रान्तों में विचरण करते हुए तत्वपिपासुओं को ब्रह्मविद्या का अमृतपान कराने लगे। राजस्थान, पंजाब आदि प्रान्तों में विचरण के अनन्तर गुजरात प्रदेश में आपकी ज्ञान गंगा प्रवाहित हो रही थी कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु महामण्डलेश्वर स्वामी प्रेमपुरी जी महाराज ने अपनी लौकिकलीला का उत्तरदायित्व आपश्री पर छोड़ कर जीवन लीला का उपसंहार कर लिया। सब सन्तों एवं भक्तों के विशाल जनसमुदाय ने श्री स्वामी प्रेमपुरी जी महाराज के उत्तराधिकारी के रूप में बम्बई में आपको अभिषिक्त किया।

"यावद्जीवं त्रयोवन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः"

के अनुसार आपने गुरुदेव का उत्तरदायित्व स्वीकार किया। तदनन्तर आत्मनिष्ठा में स्थित रहते हुए निरपेक्ष भाव से सन् १९६० में बम्बई में "श्री स्वामी प्रेमपुरी जी सत्संगमण्डल", सन् १९६२ में हरद्वार में "साधना सदन" तथा बाद में हरिद्वार में ही साधकनिवास, लोकेश्वरधाम, देवेश्वरधाम, अन्न क्षेत्र सेवा, चिकित्सालय, संस्कृत पाठशाला एवं विशाल गौशाला की स्थापना हुई। इस समय "स्वामी प्रेमपुरी जी आश्रम ट्रस्ट बम्बई" के भी अध्यक्ष आप ही हैं।

साधना सदन की स्थापना के बाद आपने एक कठोर व्रत का संकल्प लिया जो एक आश्रमाधिपति के लिए तलवार की धार पर चलने के सदृश था। बारह वर्ष तक आश्रम सीमा से बाहर न निकलकर 'क्षेत्र सन्यास' के संकल्प को पूरा कर एक आदर्श कीर्तिमान प्रस्तुत किया कि आश्रमाधिकारी एक स्थान पर निवास कर आश्रम को व्यवस्थित रूप से चला सकता है।

आप में तप, त्याग एवं ब्रह्मनिष्ठा के मूर्तिमान स्वरूप को देखकर सन्तो ने आपके नाम को "त्यागमूर्ति" विशेषण से अलंकृत किया। सन् १९६७ में अखाड़ों तथा प्रतिष्ठित संतो ने महामण्डलेश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया। स्वयं पद्मपत्रवत् रह कर आश्रमव्यवस्था संचालन करना एवं साधु संतो, साधकों को प्रस्थानत्रयी के अनवरत चिन्तन द्वारा अद्वैत निष्ठ बनाना आपश्री की एक उत्तम एवं अनुकरणीय विशेषता है। अद्वैत निष्ठ होते हुए भी लोकहितार्थ ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की त्रिवेणी आपके जीवन में प्रत्यक्ष हो रही है। प्रस्थानत्रयी का स्वाध्याय, गंगास्नान, गौसेवा, संतसेवा आदि आपकी प्रतिदिन की दिनचर्या हम सब साधकों के लिये अनुकरणीय है।

प्रणव—माहात्म्य

"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"।।

—कठोपनिषद् १—२—१५

सारे वेद जिस पद का वर्णन करते है, समस्त तपों का फल जिसकी प्राप्ति है; जिसकी प्राप्ति की इच्छा से (साधकजन) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूँ। 'ॐ' यही वह पद है।

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्"।।

कठोपनिषद् १—२—१६

यह अक्षर ही सगुण ब्रह्म है। यह अक्षर ही निर्गुण ब्रह्म है। इस अक्षर को ही जानकर जो जिस (सगुण ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म) की इच्छा करता है, वह उसी (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है।

"सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम्"।।

—माण्डूक्य का० १—२७

प्रणव ही सबका आदि, मध्य और अन्त है। प्रणव को इस प्रकार जानने के अनन्तर तद्रूपता को प्राप्त हो जाता है।

प्रणव—बोधः (मूल)

ॐ पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युच्यते। एतत् स्थूलशरीरमात्मनः। इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्। तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः। एतत् त्रयम् अकारः।

अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि, पञ्चतन्मात्राणि, तत्कार्यं च पञ्चप्राणाः दशेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते। एतत् सूक्ष्मशरीरमात्मनः। करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयःस्वप्न इत्युच्यते। तदुभयाभिमान्यात्मा तैजसः। एतत् त्रयम् उकारः।

शरीरद्वयकारणमात्माऽज्ञानं साभासम् अव्याकृतमित्युच्यते। एतत् कारणशरीरमात्मनः। तच्च न सत् नासत् नापि सदसत्, न भिन्नं नाभिन्नं नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्, न निरवयवं न सावयवं नोभयं, किन्तु केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम्। सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारेबुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः। तदुभयाभिमान्यात्माप्राज्ञः। एतत् त्रयं मकारः।

अकार उकारः, उकारो मकारः, मकार ओंकार एव, ओंकारोऽहमेव। अहमात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपः, नाज्ञानं नापि तत्कार्यं, किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाद्वयं ब्रह्मैवाहमस्मिअहंब्रह्मास्मीत्यभेदेनावस्थानं समाधिः। 'अयमात्मा ब्रह्मं (माण्डूक्य—२) (बृ० २—५—१९) इत्यादिश्रुतिभ्यः।इति ॐ।।

प्रणव—बोध

(शब्दार्थ)

ॐ पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युच्यते।

पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उनका सम्पूर्ण कार्य विराट् कहा जाता है।

एतत् स्थूलशरीरमात्मनः।

यह (विराट् ही) आत्मा का स्थूल शरीर है।

इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्।

श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जिस अवस्था में शब्दादि पाँच विषयों का ज्ञान होता है, उस अवस्था को जाग्रत अवस्था कहते हैं।

तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः।

उन दोनों (उक्त स्थूल शरीर एवं अवस्था) के अभिमानी आत्मा को विश्व (विराट् उपाधि प्रधान) कहते हैं।

एतत् त्रयम् अकारः।

ये तीनों (स्थूल शरीर, जाग्रत अवस्था एवं विश्व) (ॐकार की प्रथम मात्रा) अकार है।

अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि पञ्चतन्मात्राणि, तत्कार्यं च पञ्च प्राणाः दशेन्द्रियाणि मनोबुद्धिश्चेति सप्तदशकं—लिङ्गं भौतिकं, हिरण्यगर्भ इत्युच्यते।

अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत (सूक्ष्म आकाशादि) पञ्चतन्मात्रा (सूक्ष्म शब्दादि) ही हैं और उनके कार्य पाँच प्राण, दश इन्दियाँ, मन और बुद्धि इन सत्रह को भौतिक लिंग कहते हैं उक्त अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत एवं उनके कार्य स्वरूप सत्रह तत्वों से बने भौतिक लिंग को हिरण्यगर्भ कहते हैं।

एतत् सूक्ष्मशरीरमात्मनः।

यह आत्मा का सूक्ष्म शरीर है।

करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्न इत्युच्यते।

इन्द्रियों के निष्क्रिय हो जाने पर जाग्रत् अवस्था के संस्कारों से उत्पन्न हुए (वासनामय) विषय सहित ज्ञान को स्वप्न कहते हैं।

तदुभयाभिमान्यात्मा तैजसः ।

इन दोनों (सूक्ष्म शरीर एवं स्वप्नावस्था) के अभिमानी आत्मा को तैजस (वासनामय उपाधि प्रधान) कहते हैं।

एतत् त्रयम् उकारः ।

इन तीनों (सूक्ष्म शरीर, स्वप्नावस्था एवं तैजस) को उकार कहते हैं।

शरीरद्वयकारणमात्माज्ञानं साभासमव्याकृतमित्युच्यते।

चेतन के आभास से युक्त, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का कारण

आत्मा के अज्ञान को अव्याकृत कहते हैं।

एतत् कारणशरीरमात्मनः।

यह आत्मा का कारण शरीर है।

तच्च न सत् नासत् नापि सदसत्, न भिन्नम् नाभिन्नम्, नापिभिन्नाभिन्नम् कुतश्चित्, न निरवयवम्, न सावयवम्, नोभयं किन्तु केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम्।

वह (अज्ञान) न सत् है, न असत् है और न सत् असत् ही है; न किसी (उक्त सत् आदि) से भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न ही है। न निरवयव है, न सावयव है और न उभयरूप (निरवयव सावयव) ही है। किन्तु केवल ब्रह्म और आत्मा के अभेद ज्ञान से निवृत्त होने वाला है।

सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः।

सर्व प्रकार के वृत्तिज्ञान के विलीन हो जाने पर बुद्धि का कारण (अव्याकृत) रूप से स्थित होने को सुषुप्ति कहते हैं।

तदुभयाभिमान्यात्मा प्राज्ञः ।

उन दोनों (कारण शरीर एवं सुषुप्ति अवस्था) के अभिमानी आत्मा को प्राज्ञ (चैतन्यप्रधान) कहते हैं।

एतत्त्रयं मकारः ।

ये तीनों (कारणशरीर, सुषुप्तिअवस्था एवं प्राज्ञ) मकार हैं।

अकार उकारः, उकारो मकारः, मकार ओंकार एव, ओंकारोऽहमेव।

अकार उकार है। उकार मकार है। मकार ओंकार ही है।

ओंकार मैं ही हूँ।

अहमात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपः, नाज्ञानं नापि तत्कार्यं, किन्तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावंपरमानन्दाद्वयं—ब्रह्मै वाहमस्मि अहं ब्रह्मास्मीत्यभेदेनावस्थानं। समाधिः।

मैं आत्मा साक्षी केवल चिन्मात्र स्वरूप हूँ। मुझमें न अज्ञान है, न अज्ञान का कार्य है। किन्तु नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव, परमानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म ही मैं हूँ। इस प्रकार (ब्रह्म से) अभेद रूप में स्थित होना ही समाधि है।

''अयमात्मा ब्रह्म'' (माण्डूक्य—२) (बृ. २—५—१९) इत्यादि श्रुतिभ्यः ।

(यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि अनेक वैदिक महावाक्यों से पूर्वोक्त अभेद ज्ञान प्रकाशित होता है।

।। इति ॐ ।।

यह प्रणव—बोध है।

प्रणव—बोध

(व्याख्या)

'ॐ पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वं विराडित्युच्यते'।

महिमा भगवान् गीता में कहते हैं कि सम्पूर्ण वेदों में प्रणव मैं ही हूँ 'प्रणवः सर्ववेदेषु' प्रणव अर्थात् ॐ ही सम्पूर्ण वेदों का सार है। ॐ के स्वरूप का पूर्ण बोध होना ही ब्रह्म साक्षात्कार है। अतः ॐ के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

उपक्रम

ॐ यह जो अक्षर है, वह सब कुछ हैं। अर्थात् जो कुछ भूतकाल में था, अभी है और जो आगे होगा वह सब ॐ ही है। जो तीनों कालों से परे है वह भी ॐ ही है। तात्पर्य यह है कि सर्वात्मक एवं सबसे परे जो सर्वशक्ति – अधिष्ठान सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वह ॐ ही है और यह ब्रह्मस्वरूप ॐ साक्षात्अपरोक्ष आत्मा ही है। यह आत्मा ही अपनी शक्ति (त्रिगुणात्मिका माया) के प्रभाव से जगत् का मूल कारण (अव्याकृत) होता है।

ईश्वर और जीव ब्रहारूपी सूर्य का ईश्वररूपी प्रकाश

सर्वत्र फैला हुआ सबको प्रकाशित करता है; तथा घट के घेरे में आया हुआ ब्रह्मरूपी सूर्य का जीवरूपी प्रतिविम्ब घट को अन्दर से ही प्रकाशित करता है। परिछिन्नता के कारण जीव का बाह्य प्रकाश अतिअल्प है। इसी प्रकार ईश्वर व्यापक एवं जीव उपाधि के कारण परिछिन्न है। ईश्वर की उपाधि एवं जगत् की कारणरूपा त्रिगुणात्मिका (समष्टिरूपा) एक माया के अन्तर्गत अनन्त जीवों के अनन्त संस्कारों से युक्त बीज रूप अनन्त अन्तःकरण विद्यमान होते हैं। तत्तत् अन्तःकरणावच्छिन्न अज्ञानोपाधिक जीव कहलाता है अर्थात् एक–एक अन्तःकरण के घेरे में आयी हुई माया (अविद्या) एक–एक जीव की उपाधि होती है। अतएव ईश्वर एक है, जीव अनेक हैं। ईश्वर समष्टि है और जीव व्यष्टि है। यही ईश्वर कार्यरूप समष्टि सूक्ष्म उपाधि से जब हिरण्यगर्भ होता है, तब जीव सूक्ष्म व्यष्टि उपाधि से तैजस कहलाता है। इसी प्रकार ईश्वर जब समष्टि स्थूल उपाधि से विराट् होता है, तब जीव व्यष्टि स्थूल उपाधि से विश्व कहलाता है। ईश्वर विभु–व्यापक है, जीव परिछिन्न अल्प है। ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् है। जीव अल्पज्ञ अल्पशक्तिवाला है। ईश्वर नियामक है, जीवन नियम्य है, ईश्वर मुक्त है, जीव बद्ध है। ईश्वर अविद्यादि पंच क्लेशों से मुक्त है। जीव पाँच क्लेशों अविद्या, अस्मिता (अहंभाव), राग, द्वेष एवं अभिनिवेश (मुत्यु भय) से युक्त है।

बोध और उसका फल बोध के द्वारा समष्टि व्यष्टि सभी उपाधियों का बाध (मिथ्यात्व निश्चय) हो जाने पर जीव एवं ईश्वर

का वास्तविक स्वरूप एक अद्वितीय स्वयं सिद्ध ब्रह्म तत्व ही शेष रह जाता है। अर्थात् ज्ञानी की दृष्टि में ये कल्पित भेद कल्पित ही रह जाते हैं और उस ज्ञानी को ये अज्ञानी की तरह न तो आकर्षित करते हैं न व्यथित ही करते हैं। जैसे–मृगतृष्णा का जल दिखता तो ज्ञानी को भी है, परन्तु अज्ञानी की तरहवह मृगतृष्णा का जल उसे भटकाता नहीं।

एक अंश में यह विश्व प्रपंच ब्रह्म के (आरोपित) एक पाद में ही भासता है। उसके तीन पाद अमृत स्वरूप अपने दिव्य प्रकाश में हैं। जैसा कि वेद में कहा है।

"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" ऋग्वेद १०–९–३

वस्तुत: परमात्मा में किसी प्रकार का विभाग नहीं है। फिर भी जैसे आकाश में विभाग न होने पर भी उपाधि से विभाग का व्यवहार होता है, जैसे– कहते हैं कि आकाश के अमुक हिस्से में बादल है; उसी प्रकार परमात्मा में माया के कारण चतुष्पाद की कल्पना की गई है।

सृष्टि—क्रम इस माया विशिष्ट आत्मा अर्थात् ईश्वर से सर्व प्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश विशिष्ट आत्मा से वायु की, वायु विशिष्ट आत्मा से अग्नि की, अग्नि विशिष्ट आत्मा से जल की एवं जल विशिष्ट आत्मा से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। ये पाँचों महाभूत प्रथम सूक्ष्म तन्मात्र रूप में थे। अर्थात आकाश शब्द तन्मात्र था, वायु स्पर्शतन्मात्र, अग्नि रूपतन्मात्र, जल रसतन्मात्र एवं

पृथ्वी गन्धतन्मात्र थी। तात्पर्य यह कि आकाश का स्वरूप केवल सूक्ष्म शब्द ही था, वायु का स्वरूप केवल सूक्ष्म स्पर्श ही था, अग्नि का स्वरूप केवल सूक्ष्म रूप ही था, जल का स्वरूप केवल सूक्ष्म रस ही था एवं पृथ्वी का स्वरूप केवल सूक्ष्मगन्ध ही था।

क्रमशः गुणाधिक्य प्रथम उत्पन्न आकाश में केवल एक ही शब्द गुण है। आकाश से उत्पन्न वायु में आकाश का गुण शब्द आया तथा निजी गुण स्पर्श है, इस प्रकार वायु शब्द एवं स्पर्श दो गुणों वाला हुआ। इसी प्रकार वायु से उत्पन्न अग्नि में वायु के दो गुण शब्द एवं स्पर्श आये तथा उसका निजी गुण रूप है, इस प्रकार अग्नि शब्द, स्पर्श एवं रूप इन तीन गुणों वाली हुई। अग्नि से उत्पन्न जल में अग्नि के तीन गुण शब्द, स्पर्श एवं रूप आये तथा जल का निजी गुण रस है, इस प्रकार जल, शब्द, स्पर्श, रूपएवं रस इन चार गुणों वाला हुआ। जल से उत्पन्न पृथ्वी में जल के चार गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं पृथ्वी का अपना निजी गुण गंध इन पाँच गुणों वाली हुई।

गुणों के अनुसार स्थूलता ईश्वरेच्छा से उक्त सूक्ष्म भूतों का जब पंचीकरण हो जाता है, तब ये सूक्ष्म से स्थूल हो जाते हैं। गुणों के अनुसार स्थूल पंचभूतों की स्थूलता में तारतम्य होता है। अर्थात् जिसमें जितने अधिक गुण होते हैं, वह उतना ही अधिक स्थूल होता है। तात्पर्य यह है कि आकाश केवल एक शब्द गुण

वाला होने से स्थूल भूतों में सबसे सूक्ष्म है। वायु—शब्द एवं स्पर्श दो गुणों वाला होने से आकाश से स्थूल है। अग्नि शब्द, स्पर्श एवं रूप तीनों गुणों वाली होने से वायु से स्थूल है। जल—शब्द, स्पर्श, रूप, एवं रस चार गुणों वाला होने से अग्नि से स्थूल है। पृथ्वी—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध पाँच गुणों वाली होने से जल से भी स्थूल है।

स्थूल में ही तारतम्य उक्त तारतम्य स्थूल भूतों में ही है। सूक्ष्म भूतों में स्थूलता के तारतम्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि वे सूक्ष्म हैं।

पञ्चीकरण ऊपर बताया है कि पंचीकरण होने से सूक्ष्मभूत स्थूल हो जाते हैं। पंचीकरण का अर्थ है—पाँचों सूक्ष्मभूतों का विशेष प्रकार से मिश्रण। विशेष प्रकार के मिश्रण अर्थात् पंचीकरण की प्रक्रिया यह है कि प्रत्येक भूत में स्वयं का आधा (१।२) भाग रहता रहता है। शेष आधे भाग में अन्य चारों भूतों के आठवें (१।८)—आठवें (१।८) भाग मिल जाते हैं। इस प्रकार आकाश १।२, वायु १।८, अग्नि १।८, जल १।८, पृथ्वी १।८ मिलाकर स्थूल आकाश होता है। वायु १।२, आकाश १।८, अग्नि १।८, जल १।८ और पृथ्वी १।८ मिलाकर स्थूल वायु होता है। अग्नि १।२, आकाश १।८, वायु १।८, जल १।८ और पृथ्वी १।८ मिलाकर स्थूल अग्नि होती है। जल १।२, आकाश १।८, वायु १।८, अग्नि १।८ और पृथ्वी १।८ मिलाकर स्थूल जल होता है। इसी प्रकार पृथ्वी १।२,

आकाश १।८, वायु १।८, अग्नि १।८ और जल १।८ मिलाकर स्थूल पृथ्वी होती है।

ब्रह्माण्ड उक्त पञ्च महाभूतों से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है। सबसे बड़ा और अण्डाकार होने से यह स्थूल पञ्चमहाभूतों का कार्य ब्रह्माण्ड कहलाता है। इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत चौदह भुवन (लोक) हैं; जो निम्नलिखित प्रकार से स्थित हैं।

चतुर्दश भुवन भूलोक (पृथ्वी) सहित ऊपर के सात लोक हैं– १. भूलोक २. भूवर्लोक ३. स्वर्लोक ४. महर्लोक ५. जनलोक ६. तपोलोक ७. सत्यलोक।

पृथ्वी के नीचे के ये सात लोक हैं :– १. अतललोक, २. वितल लोक ३. सुतल लोक ४. तलातल लोक ५. रसातल लोक ६. महातल लोक ७. पाताल लोक। इन चौदह लोकों में विभिन्न प्रकार के जीव निवास करते हैं।

भूलोक जिस सप्तद्वीपा पृथ्वी (भूलोक) पर हम लोग निवास करते हैं, जिसको सूर्य प्रकाश देता है, चन्द्रमा जिसकी औषधि–वनस्पतियों को अपने रस से पुष्ट करता है, जो नक्षत्रों तारागणों से सुशोभित है, जहाँ समुद्र लहरा रहा है और गगनचुम्बी उन्नत पर्वतों से प्रवाहित होकर जहाँ अनेक नदियाँ अनवरत गति से समुद्र में मिल रही हैं, केवल उसी पर रहने वाले जीवों के शरीरों की उत्पत्ति चार प्रकार से होती है :–

चतुर्बिध प्राणी १. उद्भिज्ज २. स्वेदज ३. अण्डज ४. जरायुज। पृथ्वी भेदन करके जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें उद्भिज्ज कहते हैं जैसे—घास, पौधे, वृक्ष आदि। जो पसीने के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं उनको स्वेदज कहते है, जैसे—जूँ, लीख आदि। जो अण्डे से पैदा होते हैं, उनको अण्डज कहते हैं जैसे—मुर्गा, कबूतर आदि। जो जेर (झिल्ली) से उत्पन्न होते हैं, उनको जरायुज कहते हैं जैसे—मनुष्य, गौ, घोड़ा आदि। इन चार प्रकार से उत्पन्न होने वाले शरीरों की निम्नलिखित चौरासी लाख एक योनियाँ होती हैं।

चौरासी लाख एक योनियाँ वृक्षादि २० लाख, जलचर ९ लाख, कृमि ११ लाख, पक्षी १० लाख, पशु ३० लाख, वानर ४ लाख और १ मनुष्य योनि। पृथ्वी पर रहने वाले स्थूल देहधारी जीवों के शरीरों का प्रकार चौरासी लाख एक है न कि शरीरों की संख्या। क्योंकि उक्त योनियों में उत्पन्न शरीरों की गिनती सम्भव नहीं है।

पच्चीस तत्व उक्त स्थूल शरीरों में पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के आगे कोष्ठक में दर्शाये गये पच्चीस तत्व (कार्य) विद्यमान रहते हैं।

पञ्चीकृत हांने के कारण यद्यपि सबमें सभी तत्व विद्यमान रहते हैं, फिर भी जिसमें जिस तत्व की प्रधानता है, उसको उसी का तत्व (कार्य) बतलाया गया है।

पृथ्वी	जल	तेज	वायु	आकाश
अस्थि	शोणित	आलस्य	संकोचन	कट्याकाश
माँस	शुक्र	कान्ति	चलन	उदराकाश
नाड़ी	मूत्र	क्षुधा	उत्क्रमण	हृदयाकाश
त्वचा	स्वेद	तृषा	धावन	कण्ठाकाश
रोम	लार (लाला)	निद्रा	प्रसारण	शिराकाश

पुनः पञ्चीकरण ऊपर कोष्ठक में निर्दिष्ट पच्चीस तत्व पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के पुनः पञ्चीकरण से हुए हैं। पञ्चीकरण एवं पुनः पञ्चीकरण निम्नलिखित कोष्ठक से स्पष्ट है।

(पुनः पञ्चीकरण द्वारा)

पञ्चभूत	पृथ्वी	जल	तेज	वायु	आकाश
पृथ्वी	अस्थि	शोणित	आलस्य	संकोचन	कट्याकाश
जल	माँस	शुक्र	कान्ति	चलन	उदराकाश
तेज	नाड़ी	मूत्र	क्षुधा	उत्क्रमण	हृदयाकाश
वायु	त्वचा	स्वेद	तृषा	धावन	कंठाकाश
आकाश	रोम	लाला (लार)	निद्रा	प्रसारण	शिराकाश

पृथ्वी

(१) अस्थि— (हड्डी) पृथ्वी का मुख्य भाग है, क्योंकि पृथ्वी की तरह कठिन है, इससे इसे पृथ्वी का आधा भाग जानना चाहिए। बाकी आधे भाग के चार भाग हुए :– (१) शोणित (२) आलस्य (३) संकोच (४) कट्याकाश। ये जलादि दूसरे चार भूतों में निम्नलिखित प्रकार से मिश्रित हुए।

(२) शोणित— लाल रंग का होता है। यह पृथ्वी का भाग है जो जल के साथ मिलकर जल का तत्व कहलाता है।

(३) आलस्य— पृथ्वी की तरह आलस्य में जड़ता है, इससे पृथ्वी का भाग कहलाता है, जो तेज में मिलकर तेज का तत्व कहलाता है।

(४) संकोचन— यह भी पृथ्वी की तरह जड़ता का कारण है, इसलिए पृथ्वी का भाग है जो वायु के साथ मिलकर वायु का तत्व कहलाता है।

(५) कट्याकाश— मल को रखने के कारण यह पृथ्वी का भाग है जो आकाश में मिलकर आकाश का तत्व कहलाता है।

जल

(१) शुक्र— (वीर्य) जल का मुख्य भाग है। इसका कारण यह है कि जैसे जल सफेद और वृक्षादि को उत्पन्न करता है, उसी तरह वीर्य भी सफेद है और गर्भ को उत्पन्न करता है। अत: इसे जल का आधा भाग जानना चाहिए। बाकी आधे भाग के चार भाग हुए।

(२) माँस (३) कान्ति (४) चलन (५) उदराकाश। ये पृथ्वी आदि भूतों में निम्न प्रकार से मिश्रित हुए।

(२) माँस— यह द्रवीभूत है। इसलिए जल का भाग है। यह पृथ्वी के तत्वों में मिलने से पृथ्वी का तत्व कहलाता है।

(३) कान्ति— जल के सम्बन्ध से कान्ति में फेरफार होता है, इसलिए यह जल का भाग कहलाती है। यह तेज के साथ मिलने से तेज का तत्व कहलाती है।

(४) चलन— जल के समान चलायमान है, इसलिए जल का भाग है। यह वायु के साथ मिलकर वायु का तत्व कहलाता है।

(५) उदराकाश— जल के रहने का स्थान होने से यह जल का भाग है। यह आकाश में मिश्रित हुआ, अत: आकाश का तत्व कहलाता है।

तेज **(१) क्षुधा**— तेज का मुख्य भाग है, क्योंकि उदर में अग्नि की प्रबलता से ही क्षुधा लगती हैं। इससे यह तेज का आधा भाग है। बाकी आधे भाग के चार भाग हुए यथा (२) नाड़ी (३) मूत्र (४) उत्क्रमण (५) हृदयाकाश। ये पृथ्वी आदि दूसरे भूतों में निम्नलिखित प्रकार से मिश्रित हुए।

(२) नाड़ी— इससे ज्वर की परीक्षा होती है, इसलिए यह तेज का भाग है। पृथ्वी के तत्वों में मिलने से इसको पृथ्वी का तत्व कहा जाता है।

(३) मूत्र— उष्ण होने के कारण यह तेज का अंश है। जल के तत्वों में मिलने से जल का तत्व कहलाता है।

(४) उत्क्रमण— इसमें अग्नि की तरह ऊर्ध्वगति होने से यह तेज का भाग है। वायु के तत्व में मिलने से वायु का तत्व कहा जाता है।
(५) हृदयाकाश— हृदय में सदा उष्णता रहने से यह तेज का भाग है। आकाश के तत्व में मिलने से आकाश का तत्व कहा जाता है।

वायु **(१) धावन**— (दौड़ना) वायु का मुख्य भाग है। वायु की तरह वेग से दौड़ा जाता है, इसलिए वायु का आधा भाग है। बाकी आधे के चार भाग हुए। यथा (२) त्वचा (३) स्वेद (४) तृषा (५) कंठाकाश।
(२) त्वचा— इसमें स्पर्श होता है, इसलिए यह वायु का भाग है। पृथ्वी के तत्व में मिलने से इसको पृथ्वी का तत्व कहा जाता है।
(३) स्वेद— अधिक श्वासोच्छ्वासयुक्त वायु से पसीना होता है और वायु से ही सूख जाता है। अतः यह वायु का भाग है। जल तत्व के साथ मिलने से जल का तत्व कहलाता है।
(४) तृषा— वायु से शोषण होकर तृषा उत्पन्न होती है, इसलिए यह वायु का भाग है। तेज तत्व के साथ मिलने से तेज का तत्व कहलाती है।
(५) कण्ठाकाश— वायु के जाने–आने का स्थान होने के कारण यह वायु का भाग है। आकाश के तत्व से मिलने से यह आकाश का तत्व कहलाता है।

आकाश

(१) शिर— आकाश का मुख्य भाग है। इसमें जो रिक्त स्थान है,

वह आकाश रूप होने से आकाश का आधा भाग है। बाकी आधे के चार भाग हुए। यथा (२) रोम (३) लाला (लार) (४) निद्रा (५) प्रसारण। ये पृथ्वी आदि दूसरे चार भूतों में निम्न प्रकार से मिश्रित हुए।

(२) रोम— इसको काटने से दु:ख प्रतीत नहीं होता। अत: यह आकाश का भाग है। पृथ्वी के तत्व में मिलने से पृथ्वी का तत्व कहलाता है।

(३) लाला (लार)— यह शिराकाश से नीचे आती है। अत: यह आकाश का भाग है। जल तत्व के साथ मिलने से इसे जल का तत्व कहा जाता है।

(४) निद्रा— शून्य स्वभाव होने से यह आकाश का भाग है। तेज तत्व के साथ मिलने से तेज का तत्व कहलाती है।

(५) प्रसारण— व्यापकता होने से यह आकाश का भाग है। वायु तत्व के साथ मिलने से, वायु का तत्व कहलाया।

मतान्तर मतान्तर से काम, क्रोध, शोक, मोह एवं भय ये पाँच आकाश के तत्व हैं, जो हृदयाकाश से उत्पन्न होते हैं। अत: ये आकाश के तत्व कहलाते हैं। यद्यपि ये सूक्ष्म देह के धर्म हैं, फिर भी इनका आवेश स्थूल देह में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। अत इन्हें स्थूल देह के तत्वरूप में वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त निद्रा को भी समझना चाहिए।

विराट् उक्त स्थूल पञ्चमहाभूत एवं उनका कार्यरूप व्यष्टि अनन्त स्थूल देहधारी जीवों से युक्त, चौदह भुवन वाले ब्रह्माण्ड को विविध रूपों में प्रकट होने (भासने) के कारण विराट् (समष्टि) कहते हैं।

आत्मा का स्थूल शरीर

"एतत् स्थूल शरीरम् आत्मन:"

यह (उक्त विराट्) आत्मा का स्थूल शरीर है। यद्यपि विराट् समष्टि स्थूल उपाधि वाले आत्मा को भी कहते हैं, तथापि यहाँ पर केवल समष्टि स्थूल उपाधि के अर्थ में विराट् शब्द का प्रयोग किया गया है।

विराट् वर्णन विराट् भगवान् के शरीर का रूपक निम्नलिखित प्रकार से शास्त्रों में वर्णन किया गया है।

उस विराट् भगवान का चरण पाताल है। शिर ब्रह्मलोक (सत्यलोक) है। अन्य भिन्न–भिन्न अंग बीच के लोक हैं। उनका भृकुटि–संचालन भयङ्कर काल है। नेत्र सूर्य है। बाल बादलों का समूह है। नासिका अश्विनीकुमार हैं। निमेष–उन्मेष (पलक बन्द करना–खोलना) रात और दिन हैं। कान दशों दिशाएँ हैं। श्वाँस वायु है। वाणी वेद है। भुजाएँ दिगपाल हैं। मुख अग्नि है। जीभ वरुण है। रोमावली अठारह प्रकार की असंख्य वनस्पतियाँ हैं। अस्थियाँ पर्वत हैं। नसें नदियाँ हैं। पेट समुद्र है, नीचे की इन्द्रियाँ नरक हैं। अहङ्कार रुद्र है। बुद्धि ब्रह्मा है। मन चन्द्रमा है। चित्त नारायण है।

विराट् आत्मा नहीं शंका होती है कि क्या यह उक्त विराट् जगत् ही आत्मा है? क्योंकि पहले बता चुके हैं कि आत्मा ही सब कुछ है। इसका समाधान यह है कि विराट् आत्मा का स्थूल शरीर है, आत्मा नहीं। आत्मा स्वयं है, विराट् अनात्मा है। आत्मा सत्य है और यह मिथ्या है। अर्थात् विराट् आत्मा का विवर्त है (सत्य में कल्पित रूप को सत्य का विवर्त कहते हैं), जैसे रस्सी में सर्प। सत्य स्वरूप आत्मा के अस्तित्व से ही इस विराट् का अस्तित्व है अर्थात् जो कुछ प्रकट हो रहा है, वह आत्मा के सिवाय कुछ नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण से बने आभूषण स्वर्ण के सिवाय कुछ नहीं हैं। क्योंकि स्वर्ण के बिना आभूषण नहीं रह सकते हैं; आभूषणों के बिना स्वर्ण रह सकता है। उसी प्रकार विराट्–जगत्, आत्मा के बिना नहीं रह सकता है; आत्मा बिना विराट्–जगत के भी रहता है।

मूलतः स्पष्टीकरण मूल से ही इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। जैसे–स्वर्ण तत्व है एवं जिस डली के रूप में वह दिखाई दे रहा है, वह डली मानो उसकी शक्ति है। स्वर्ण से पृथक् डली स्वयं सिद्ध नहीं होती है। अत: वह स्वर्ण में मिथ्या (कल्पित) है। परिवर्तन मिथ्या (कल्पित) डली में ही होता है। स्वर्ण में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता है। फिर भी परिवर्तनशील डली आदि आकारों में सत्ता (अस्तित्व) स्वर्ण की ही रहती है। उसी प्रकार आत्मा स्वर्ण की तरह तत्व है एवं उसकी शक्ति त्रिगुणात्मिका माया डली की तरह मिथ्या है। परिवर्तन माया में ही होता है, आत्मा में

नहीं। फिर भी परिवर्तनशील मायामय पदार्थों में सत्ता (अस्तित्व) आत्मा की ही होती है। जैसे–स्वर्ण की डली से तार बना, एवं तार से कङ्कन, कुण्डल आदि आभूषण बने; उसी प्रकार त्रिगुणात्मिका माया से तार की तरह सूक्ष्मभूत बने और सूक्ष्मभूतों से, तार से आभूषणों की तरह स्थूलभूत और उन स्थूल भूतों का कार्य चराचर जगत् उत्पन्न हुआ। जैसे–जो स्वर्ण डली के रूप में था– वही स्वर्ण तार के रूप में दिखाई दिया तथा वही आभूषणों के रूप में होता है; वैसे ही जो आत्मा माया शक्ति विशिष्ट था वही सूक्ष्म–पञ्चमहाभूतों के रूप में प्रकट हुआ और वही स्थूल भूतों एवं उनके कार्यों के रूप में प्रकट हो रहा है। अर्थात् जैसे स्वर्ण ही आभूषणों के रूप में दिख रहा है; उसी प्रकार आत्मा ही जगत् के रूप में दिख रहा है। यद्यपि जैसे स्वर्ण ही कङ्कन आदि आभूषणों के रूप में दिखाई देता है, फिर भी उन आभूषणों को सीधे स्वर्ण न कहकर कङ्कन, कुण्डल आदि नामों से पुकारते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा ही परिवर्तनशील विराट् के रूप में प्रकट है; फिर भी इसको सीधे आत्मा न कहकर आत्मा का स्थूल शरीर कहते हैं।

व्यावहारिक और पारमार्थिक माया और माया के कार्य व्यावहारिक हैं। आत्मा (पारमार्थिक) तत्व है। जिस प्रकार डली तार एवं आभूषण व्यावहारिक हैं, अर्थात् इन्हीं से व्यवहार होता है; उसी प्रकार माया एवं माया के कार्यों से ही व्यवहार होता है। स्वर्ण तत्व है। इसके कल्पित नाम रूप को छोड़कर केवल स्वर्ण का व्यवहार नहीं होता है और न केवल स्वर्ण दिखाई देता है। जब भी

स्वर्ण दिखाई देगा तो उसका कोई न कोई कल्पित रूप अवश्य होगा और उस रूप का वाचक शब्द (नाम) भी होगा। जैसे—स्वर्ण कहीं कुण्डल, कङ्गन आदि आभूषणों के रूप में है तो कहीं सिल्ली, डली आदि के रूप में है। बिना आकार के वह दृश्य हो ही नहीं सकता, उसी प्रकार आत्मा अव्यवहार्य है। अर्थात् व्यवहार का विषय नहीं है। जो कुछ भी व्यवहार होता है, कल्पित नाम—रूप को लेकर ही होता है और बिना किसी कल्पित नाम—रूप के आत्मा दृश्य होता ही नहीं।

कल्पित आवरण जिस प्रकार कङ्गन के रूप में स्वर्ण को देखते हुए भी हम उसको स्वर्ण न कहकर कङ्गन कहते हैं, स्वर्ण में प्रतीयमान कल्पित कङ्गन स्वर्ण के रूप को ढक सा लेता है; उसी प्रकार जगत् के रूप में आत्मा को देखते हुए भी उसको आत्मा न कहकर जगत् कहते हैं। आत्मा में प्रतीयमान कल्पित मायामय नामरूपात्मक जगत् आत्मा को ढक सा लेता है।

आध्यात्मिकादि का स्वरूप विविध रूपों में भासनेवाला विराट् आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक इन तीन भागों में विभक्त है। इन त्रिविध भेदों को प्राप्त होकर ही विराट् विविध रूपों में ग्राह्य होता है, अन्यथा ग्राह्य हो ही नहीं सकता। आध्यात्मिक उसको कहते हैं; जिसमें आत्मसम्बन्ध की बुद्धि हो। अर्थात् जो ''मेरा'' या ''मैं'' रूप से भासे। उदाहरणार्थ—नेत्र इन्द्रिय आध्यात्मिक है। नेत्र में प्राणी 'मेरा नेत्र' इस प्रकार आत्मसम्बन्ध मानता है।

आधिदैविक उनको कहते हैं, जो इन्द्रियों के मूल हैं। जिन्हें इन्द्रियों के देवता कहते हैं एवं जिनके बिना इन्द्रियाँ कार्यक्षम नहीं हो सकती। जैसे—नेत्र आध्यात्मिक हैं तो सूर्य (तेज तत्व या प्रकाश) आधिदैविक है। क्योंकि तेज अर्थात् अग्नि तत्व से ही नेत्र की उत्पत्ति है एवं बिना तेज अथवा प्रकाश के नेत्र रूप ग्रहण का कार्य नहीं कर सकता। आधिभौतिक उनको कहते हैं, जो भूतों के आश्रित रहने वाले गुण हैं एवं जिनकी सि़द्धि नेत्र आदि इन्द्रियों से होती है। जैसे रूप तेज के आश्रित रहने वाला तेज का गुण है एवं इस रूप की सिद्धि तेज का ही कार्य नेत्र इन्द्रिय से होती है। तात्पर्य यह है कि तेज (नेत्र) ही तेज (प्रकाश) से, तेज (रूप) को ग्रहण करता हैं। अर्थात् नेत्र=आध्यात्मिक, प्रकाश=आधिदैविक एवं रूप=आधिभौतिक—ये तीनों एक ही तेज (अग्नि) तत्व हैं। इस तेज (अग्नि) तत्व का कोई भी स्वरूप आध्यात्मिकादि त्रिविध भेद के बिना सिद्ध नहीं हो सकता है। इस प्रकार जितने भी त्रिविध भेद भासते हैं, वे सब के सब आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक स्वरूप हैं।

परस्पर सापेक्ष उपर्युक्त आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक ये तीनों विभाग भी भ्रम से ही भासते हैं। वस्तुतः यह त्रिविध भेद भी एक आत्मा का ही विवर्त है, क्योंकि आध्यात्मिकादि तीनों ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं, स्वतन्त्र कोई भी सिद्ध नहीं होता। नेत्र की सिद्धि, रूप की सिद्धि (रूप के ज्ञान) के अधीन है। यदि रूप का ज्ञान न हो तो, रूप का ज्ञान कराने वाली

नेत्र इन्द्रिय है—यह सिद्ध नहीं हो सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि रूप की सिद्धि नेत्र के अधीन है। यदि नेत्र न हो तो रूप की सिद्धि अर्थात् रूप का ज्ञान हो ही नहीं सकता । इसी प्रकार आधिदैविकप्रकाश (तेज) के बिना आध्यात्मिक नेत्र एवं आधिभौतिक रूप की सिद्धि हो ही नहीं सकती, क्योंकि प्रकाश के अभाव में, रूप का ज्ञान न होने के कारण रूप का ज्ञान कराने वाली नेत्र—इन्द्रिय भी सिद्ध नहीं हो सकती है। नेत्र तथा रूप की सिद्धि हुए बिना प्रकाश की सिद्धि नहीं होती है। यदि नेत्र न हो और रूप दिखाई न दे तो 'प्रकाश है', ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार श्रोत्र, आकाश एवं शब्द; त्वचा, वायु एवं स्पर्श; रसना, जल एवं रस तथा नासिका (घ्राणेन्द्रिय) पृथ्वी एवं गन्ध ये सब के सब परस्पर की अपेक्षा से ही सिद्ध होते हैं।

आभासभास्य एवं साक्षिभास्य जाग्रत एवं स्वप्न अवस्था में आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक की परस्पर सिद्धि होती है। विशेष यह है कि स्वप्न के पदार्थ प्रातिभासिक (मनोमय) होने के कारण साक्षिभास्य हैं और जाग्रत् के पदार्थ व्यावहारिक होने के कारण आभासभास्य हैं। जाग्रत् में, अन्तःकरण की वृत्ति में स्थित (चेतन) आत्मा का आभास उनको प्रकाशित करता है और—आभास से वे प्रकाशित हो गये—इसका ज्ञान साक्षि चेतन (आत्मा) से होता है। इसका सारांश यह है कि **'यह पुस्तक है'** यह ज्ञान पुस्तकाकार वृत्ति में स्थित स्वतः सिद्ध साक्षिचेतन (आत्मा) के आभास से होता है, और **'मुझे पुस्तक का ज्ञान हो**

गया' यह ज्ञान स्वतः सिद्ध साक्षि चेतन आत्मा से होता है। तात्पर्य यह है कि प्रथम ज्ञान जिसमें आध्यात्मिक आदि तीनों परस्पर सिद्ध होते हैं, वह आभास से और उस ज्ञान का ज्ञान स्वतः सिद्ध साक्षि चेतन आत्मा से होता है। इस प्रकार आध्यात्मिकादि के भाव अर्थात् होने को साक्षि आत्मा प्रकाशित करता है।

अभाव भी साक्षिभास्य सुषुप्ति अवस्था में मन के लीन हो जाने पर आध्यात्मिक नेत्रादि, आधिदैविक सूर्यादि एवं आधिभौतिकरूपादि किसी की भी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि मन के लीन हो जाने के कारण (१) मन की कोई वृत्ति सुषुप्ति अवस्था में नहीं रहती। (२) वृत्ति के अभाव में चेतन का आभास होता ही नहीं, (३) जैसे दर्पणादि के अभाव में मुख आदि का प्रतिविम्ब होता ही नहीं है। जब अन्तःकरण की वृत्ति नहीं है और चेतन का आभास भी नहीं है तो बिना वृत्ति और आभास के सर्वाधिष्ठान चेतन सीधे किसी घट पटादि को प्रकाशित करेगा ही नहीं। अतः सुषुप्ति अवस्था में 'आध्यात्मिकादि सबका अज्ञान है' यह भी साक्षि चेतन आत्मा से सिद्ध होता है। अर्थात् आध्यात्मिकादि के अभाव को भी स्वतः सिद्ध साक्षि आत्मा ही प्रकाशित करता है। अतः आध्यात्मिकादि के भाव और अभाव का प्रकाशक स्वतः सिद्ध आत्मा ही सत्य है और ये सभी आध्यात्मिकादि स्वतः सिद्ध न होने के कारण मिथ्या, अर्थात् आत्मा के ही विवर्त हैं।

टिप्पणी : (१) मन के लीन हो जाने पर —कहने का तात्पर्य यह है कि मन केवल बाह्य वृत्तियों को छोड़ देता है, समाप्त नहीं हो जाता, सामान्य अवस्था में रहता है। उस सामान्य अवस्था में जाग्रत–स्वप्न पदार्थों की वृत्ति न होने के कारण, उस अवस्था का नाम अविद्या वृत्ति है। अतएव उस अविद्या वृत्ति से ही प्राज्ञनामक जीव आनन्द का भोक्ता कहा जाता है।

(२) 'कोई भी वृत्ति नहीं रहती' कहने का तात्पर्य यह है कि जाग्रत एवं स्वप्न जैसी पदार्थाकार कोई भी वृत्ति नहीं रहती ।

(३) 'वृत्ति के अभाव में चेतन का आभास नहीं होता है' कहने का तात्पर्य यह है कि जाग्रत की वृत्तियों में जिस प्रकार चेतन का स्पष्ट रूप से आभास होता है, वैसा आभास नहीं होता है। परन्तु अविद्या वृत्ति में अस्पष्ट आभास तो होता ही है।

आत्मा स्वयं सिद्ध है इस रीति से विचार करने पर ऐसा निश्चय होता है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् स्वतन्त्र सिद्ध न होने के कारण मिथ्या है। आध्यात्मिकादि तीनों को एक साथ प्रकाशित करने वाला साक्षी चेतन आत्मा ही सत्य है; क्योंकि साक्षि आत्मा स्वयं प्रकाश होने से स्वत:, अर्थात् स्वतन्त्र सिद्ध है। आत्मा अपनी सिद्धि में आध्यात्मिकादि किसी की भी अपेक्षा नहीं रखता है और आध्यात्मिकादि तीनों बिना चेतन दृष्टा आत्मा के सिद्ध हो नहीं सकते हैं। आत्मा उनके होने एवं न होने को अर्थात् आध्यात्मिकादि के भाव और अभाव दोनों को प्रकाशित करता है। अत: आत्मा सत्य एवं स्वयं सिद्ध है।

आत्मा के स्थूल शरीर को बतलाकर अब जाग्रत् अवस्था का वर्णन करते हैं–

जाग्रत् अवस्था

''इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्''

'इन्द्रियों के द्वारा विषय उपलब्धि को जाग्रत अवस्था कहते हैं'। यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द करण वाची है एवं उपलब्धि शब्द सभी करणों के व्यापार का बोधक है।

यद्यपि सामान्यतया उपलब्धि स्वप्न आदि अन्य अवस्थाओं में भी है, तथापि करण जन्य उपलब्धि जाग्रत् अवस्था में ही होती है। करण दो प्रकार के होते हैं। बाह्यकरणएवं अन्तःकरण। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ ये बाह्यकरण हैं। मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार ये अन्तःकरण हैं। (१) जिस अवस्था में श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से जो शब्दादिक विषयों का ज्ञान होता है, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों से जो शब्दोच्चारणादि क्रिया होती है एवं बुद्धि, मन आदि से जो अनुमान आदि ज्ञान तथा संकल्पविकल्पादि क्रिया होती है, उस अवस्था को जाग्रत् अवस्था कहते हैं।

बाह्यकरण एवं अन्तःकरण की अन्योन्यापेक्षताः —

टिप्पणी : (१) करण शब्द का अर्थ साधन होता है, जो बाहर के ज्ञान और बाहर की क्रिया के साधन होते हैं, उनको बाह्यकरण कहते हैं। जो अन्दर के सुख–दुःख के ज्ञान और चिन्तनादि क्रिया का साधन होता है, उसको अन्तःकरण कहते हैं, बाह्यकरण जो कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वे अन्तःकरण

की अपेक्षा रखती हैं। अर्थात् जब तक मन रूपी अन्तःकरण का सहयोग नहीं होता–बाह्यइन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर सकतीं। जिस प्रकार कोई उपदेश श्रवण कर रहा हो, परन्तु ज्ञानेन्द्रिय के साथ यदि मनोयोग नहीं है, तो क्या उपदेश हुआ, यह उसको ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार अन्तःकरण भी बाह्य विषयों के ग्रहण में श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा रखता है। जैसे कि यदि श्रोत्रेन्द्रिय काम न करे तो मन बाह्य शब्द को ग्रहण नहीं कर सकता। जैसे बहरे व्यक्ति को बाह्य शब्दों का ज्ञान नहीं होता है।

अध्यात्म और अधिदैव पहले कह चुके हैं कि जो भेद भासते हैं, वे आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक रूप हैं। तात्पर्य यह है कि श्रोत्रादिकरण जो आध्यात्मिक हैं वे स्थूल शरीर में अपने–अपने गोलकों में रहकर ही कार्यक्षम होते हैं। अतः विराट् का स्थूल शरीर जो ब्रह्माण्ड है, उसके समष्टि (विराट्) करणाभिमानी देव, व्यष्टि (जीव) इन्द्रियों के देवता होते हैं। जो कि व्यष्टि की इन्द्रियों पर अनुग्रह करके उन्हें उनके विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं। अर्थात् उनके गोलकों को कार्यक्षम एवं सुरक्षित रखते हैं, जिससे वे अपने–अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं। वे अपने–अपने देवताओं के अनुग्रह के बिना अपने विषय को ग्रहण नहीं कर सकते। जैसे– नेत्र के देवता सूर्य के अनुग्रह के बिना व्यक्ति अन्धा होता है; अर्थात् रूप को ग्रहण करने में असमर्थ होता

है। अतः प्रत्येक आध्यात्म के अधिभूत एवं अधिदेव का स्वरूप निम्नलिखित कोष्ठक द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है :—

अध्यात्मादिका कोष्ठक

अध्यात्म	अधिभूत	अधिदेव	
श्रोत्र	शब्द	दिशा	ज्ञानेन्द्रियाँ
त्वचा	स्पर्श	वायु	
चक्षु	रूप	सूर्य	
जिह्वा	रस	वरुण	
घ्राण	गन्ध	पृथ्वी(अश्विनीकुमार)	
वाक्	वचन	अग्नि	कर्मेन्द्रियाँ
पाणि	आदान	इन्द्र	
पाद	गमन	उपेन्द्र (विष्णु)	
शिश्न	आनन्द	प्रजापति	
गुदा	विसर्ग	मृत्यु	
अन्तःकरण	स्फुरण	विष्णु	अन्तःकरण
मन	संकल्प, विकल्प	चन्द्रमा	
बुद्धि	निश्चय	ब्रह्मा (१) सूर्य	
चित्त	चिन्तन	नारायण	
अहंकार	अभिमान	रुद्र	
तम (माया)	विकार	ईश्वर	

टिप्पणी (१) यद्यपि कहीं–कहीं पर बुद्धि का देवता सूर्य को बतलाया गया है, तथापि बुद्धि का देवता ब्रह्मा मानने में परस्पर विरोध नहीं है। क्योंकि शास्त्रों के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि पुराणों में जिसको ब्रह्मा कहते हैं, वेदों में उसी को सूर्य कहा गया है। जैसा कि हमारे पत्र के उत्तर में निम्नलिखित ''आर्ष विज्ञान परिषद्'' के पत्र से स्पष्ट होता है–

पत्र– ता० २३–७–१९६४

श्रीयुत मान्यवर स्वामी गणेशानन्द जी महाराज !

सादर चरणस्पर्श पुरः सर

ॐ नमो नारायणाय।

आपका कृपा पत्र कल्याण सम्पादक पोद्दार जी के द्वारा प्राप्त हुआ। आपने जो बुद्धि का अधिष्ठाता ब्रह्मा है, यह निश्चय कर रखा है सो परमोचित और शास्त्र सम्मत है। पुराणों की भाषा में भगवान् की जिस शक्ति को ब्रह्मा या प्रजापति कहा गया है उसी शक्ति को वेदों में सूर्य, सविता, प्रजापति आदि नामों से अभिहित किया है। ध्यान दीजिये–श्रीमद्भागवत के सृष्टि क्रम पर जो शतपथ ब्राह्मण के अक्षरशः अनुकूल है।

''वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरंतीं मनः ।
अकामा। चकमे क्षत्तः सकाम इति नः श्रुतम्''।।

श्रीमद्भागवत स्कं. ३–१८–२८। इसमें दुहिता के पीछे ब्रह्मा के दौड़ने की बात कही गई है। शिव महिम्न में भी पंडित राज

पुष्पदन्त ने इस कथा को दोहराते हुए कहा है। ''प्रजानाथं नाथः प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषु ऋष्यस्य वपुषा''।। इत्यादि।।

अब मिलान करे शतपथ की इस श्रुति से–

''प्रजापतिर्हवै स्वां दुहितरमभिदध्यौ दिवं।।

वोषसं वा मिथुन्येतया स्वामिति तां सम्बभूव''।।

यहाँ इस मन्त्र में प्रजापति सूर्य का द्यौः और उषा के सङ्ग का रूपक माना गया है कि सूर्य की उदीयमान किरणों से द्यौ और उषाकाल लाल हो गये उदीयमान सूर्य भी रक्त वर्ण होता है। ऐ०ब्रा० क० ३३–३४ ''प्रजापतिर्हवैस्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमिति अन्ये उषसमिति अन्ये''। ऋग्वेद में भी इसका वर्णन है–

''पिता यत्स्वां दुहितरमधिष्कन् क्ष्मयारेतः संजग्मानो निषिञ्चन्''। ऋ०अ० ८।। वर्गसू० २७ मं० ७ सार यह है कि ब्रह्मा की इस कथा का मूल स्रोत वेद है, जिसमें प्रजापति सूर्य है उसका रूपक पुराणों में ब्रह्मा के नाम से दिया गया है, अतः पुराणों का ब्रह्मा, वेद का सूर्य, सविता, प्रजापति, के अतिरिक्त भिन्नतत्व नहीं। इसलिए बुद्धि की वृद्धि के लिए द्विज मात्र प्रतिदिन **"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्"** का जप करते हैं, चतुर्मुख ब्रह्मा का नहीं करते। याज्ञवल्क्य ऋषि ने सूर्य की स्तुति करके ही शुक्ल यजुर्वेद की उपलब्धि की थी। अब आप वेदों के प्रकाण्ड विद्वान मोतीलाल जी ने जो राष्ट्रपति के सामने ५ व्याख्यान दिये थे, उनके सांस्कृतिक पाँच व्याख्यान

प्रकाशित हुए हैं। उनके शब्दों पर भी ध्यान देने की कृपा करें। वेद पुराण समन्वय व्याख्यान पृ० सं० १८० रजोगुण से युक्त चान्द्रदेव भाग से समन्वित महान् के प्रकृति भाव से प्राणियों कें मन का स्वरूप निर्माण हुआ है। एवं सत्व गुण से युक्त और ऋषिभाग से समन्वित महान् के अहंकृति भाव से प्राणियों की बुद्धि का निर्माण हुआ है। पृष्ठ १८१ में वे लिखते हैं, चन्द्रमा के अनन्तर स्थान आता है सूर्य का जिससे धियो यो नः प्रचोदयाद्, रूप से मानव के बुद्धितन्त्र का निर्माण हुआ है। मानव की बुद्धि सौरी है, यह अपने मौलिक रूप से सत्वगुण प्रधान है। अस्तु पुराणों का ब्रह्मा एवं वेद का सूर्य दोनों एक ही तत्व हैं भाषा का भेद है, भाव का नहीं। दोनों का कार्य सर्जन है अतः दोनों ही सविता हैं। आपकी मान्यता और मेरी मान्यता में मुझे कुछ भी विरोध नहीं प्रतीत होता है। अतः मैं निःसंकोच आपके मत का समर्थन करता हुआ, लम्बे पत्र पढ़ने के लिए दिये हुए कष्ट के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

भवतामेवात्मीयः कश्चन

हरिवक्षजोशी

यह तो सर्व विदित सिद्धान्त है कि जो इन्द्रियादि जिस तत्व से उत्पन्न होती हैं उनका नियन्ता अधिष्ठाता, प्रेरक वही परतत्व होता है।

तम और ईश्वर तम अध्यात्म है, विकार अधिभूत है एवं ईश्वर अधिदेव है। यह निश्चित ही है कि तम (माया) या प्रकृति प्रतिक्षण परिणामिनी है। अतः वह परिणाम या विकार अधिभूत है।

किन्तु कोई भी विकार तब तक सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक कि उसका आधार निर्विकार न हो। जैसे—कोई भी आभूषण तब तक नहीं बन सकता और न बनकर टूट सकता है, जब तक कोई धातु सोना—चाँदी आदि न हो। अतः बिना ईश्वररूपी निर्विकार अधिदेव के माया का विकार भी सिद्ध नहीं हो सकता।

प्राकृत जगत् नियम बद्ध है दूसरी बात यह है कि प्रकृति के जितने भी विकार या क्रियाएँ हैं, उनमें एक नियम देखने में आता है। उसी नियम के आधार पर सम्पूर्ण वैज्ञानिक उन्नतियाँ होती हैं। यदि वह व्यवस्थित नियम में न हों तो भौतिक विज्ञान का कोई भी सिद्धान्त स्थित ही नहीं हो सकता है। वस्तु में नियम (सिद्धान्त) बिना नियामक के सिद्ध नहीं हो सकते। अतः बिना ईश्वररूपी नियामक के आधिभौतिक जगत का नियम सिद्ध नहीं हो सकता, अतः आधिभौतिक नियम के लिये आधिदैविक ईश्वर बतलाया गया है। ईश्वर शब्द भी अनुशासनकर्ता या नियामक का ही बोध कराता है।

ईश्वर निर्विकार है ईश्वर नियामक होते हुए भी निर्विकार है। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, उसका नियामकत्व उसके अस्तित्व मात्र से है। जैसा कि श्रुति भी संकेत करती है :—

"भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पंचम इति"॥

(तै० —२/८/१)॥

उस परमात्मा के भय से, अर्थात् राजा की तरह—अस्तित्व मात्र से वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु भी अपने—अपने कार्य में निरत रहते हैं। तात्पर्य यह है कि ईश्वर की सत्ता मात्र से ही वायु आदि सभी शक्तियाँ अपने—अपने नियम में रहकर कार्य करती हैं।

इस प्रकार देवताओं के अनुग्रह को प्राप्त हुए बाह्य एवं अन्तःकरण से अपने—अपने विषय का जो ज्ञान होता है, उसे जाग्रत् कहते हैं।

विश्व – "तदुभयाभिमान्यात्मा विश्वः"

उक्त—जाग्रत् अवस्था एवं स्थूल शरीर के अभिमानी को विश्व कहते हैं।

मनुष्य से अन्य शास्त्र का अधिकारी नहीं जिस जाग्रत् अवस्था का यहाँ प्रसंग है, वह मनुष्य प्राणी की जाग्रत् अवस्था है। मनुष्य शरीर में ही बाह्यकरण तथा अन्तःकरण, अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का पूर्ण विकास होता है। मनुष्य ही शास्त्र का अधिकारी है। दूसरे जो स्थावरादि योनियों में हैं, उनके लिये वेदादि शास्त्र का प्राकट्य नहीं है। परमात्मा का साक्षात्कार वे नहीं कर सकते। उनमें अन्तःकरण एवं बाह्यकरण पूर्ण विकसित नही हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि ये वाह्यकरण तथा अन्तःकरण परस्पर सापेक्ष हैं, तथा ये बिना स्थूल शरीर के गोलकों के कार्यक्षम नहीं हो सकते हैं, पशु—पक्षी आदि योनियों में कुछ के शरीरों में इन्द्रियों के गोलक होते ही नहीं।

किन्हीं में एक किन्हीं में दो, तीन, चार तक होते हैं। किन्हीं—किन्हीं में पाँच गोलक भी होते हैं। परन्तु इससे ये बाह्य विषयों को पूर्णतया ग्रहण नहीं कर सकते। किन्तु इनके अन्तःकरण में मैं हूँ मुझे जीना है, यह विशेषतया अहंवृत्ति कार्य करती है। यही कारण है कि इनका सारा व्यवहार देह निर्वाह के लिये ही होता है और तदात्मक प्रबृत्ति में ही केन्द्रित हो जाता है। अर्थात्, जीने के लिए आहार प्राप्त करना, थकने पर आराम करना, शरीर के नाश का भय दिखाई पड़ने पर उसका सामना करना और कामवासनावश सन्तान पैदा करना।

कोषों का क्रमिक विकास वृक्षादि में केवल अन्नमयकोश की प्रधानता है—दूसरे कोश प्रायः सुषुप्त हैं। सर्पादि योनियों में अन्नमय और प्राणमय दो की ही प्रधानता है; शेष कोश पूरे विकसित नहीं हैं। इसी प्रकार पशु—पक्षी योनियों में अन्नमय—प्राणमय के साथ मनोमय एवं विज्ञानमय का भी कुछ विकास हुआ है। परन्तु पाँचो कोशों का पूर्ण विकास तो मनुष्य शरीर में ही होता है।

मानव शरीर की श्रेष्ठता और सफलता शास्त्रों में मनुष्य योनि को ही श्रेष्ठ बतलाया गया है।

> "सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
> वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
> तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
> ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः"।। (भागवत—११—९—२८)।।

भगवान् ने अपनी अचिन्त्य शक्ति—माया से वृक्ष—सरीसृप (रेंगने वाले जन्तु) पशु—पक्षी, डाँस और मछली आदि अनेक प्रकार की योनियाँ रची, परन्तु उनसे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। तब उन्होंने मनुष्य शरीर की सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धि से युक्त है, जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है। इसकी रचना करके वह बहुत आनन्दित हुए। अथवा यों समझिए कि विधाता ने एक बहुत बड़ा प्रयोग किया, जो वृक्षों से प्रारम्भ होकर मनुष्यों पर जाकर सफल हुआ। चूँकि मानव शरीर में ही सभी इन्द्रियों तथा अन्तःकरण का पूर्ण रूप से विकास होता है, इसलिए वह कुशल कलाकार जो तत्व डालना चाहता था, वह मनुष्य के शरीर में ही डाल सका। और वह तत्व विशेष है उसके मनन करने की शक्ति—प्रज्ञाशक्ति। अन्य जीवों में अपने निर्माता को जानने की शक्ति नहीं थी, इसलिये उसने कार्यों द्वारा निर्माता की शक्ति तथा स्थिति को जानने के उद्देश्य से ही इस विशेष जीवधारी का निर्माण किया। इससे सिद्ध हुआ कि मनुष्य के निर्माण का मुख्य उद्देश्य अपने निर्माता का पूर्णरूपेण ज्ञान ही है। उसी को दूसरे शब्दों में ब्रह्म साक्षात्कार, अपरोक्ष अनुभूति तथा आत्मज्ञान कहते हैं। जिसे प्राप्त कर मनुष्य पूर्ण शान्ति, अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है।

मानव की पूर्णता ऋषि भाव में देखने में आता है कि मनुष्य योनि, जिसे बनाकर ब्रह्मा बहुत आनन्दित हुए, जिसे मनुष्य चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद प्राप्त करता है, उसमें वह पशु—पक्षी से भी ज्यादा दुःखी, व्यग्र तथा अशान्त है। इसका

कारण यह है कि चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए उसका अध्यास और भी दृढ़ हो जाता है। तथा वह आनन्द को प्रतिक्षण परिणामी भौतिक विषयों द्वारा ही प्राप्त करने के लिए अपनी प्रज्ञा शक्ति को लगा देता है। फिर भी आनन्द को वस्तुत: प्राप्त नहीं कर पाता। जब चारों ओर से निराश हो जाता है, तब हार मांनकर गुरू की शरण लेता है और शास्त्रों के अध्ययन–मनन द्वारा जन्म–जन्मान्तरों में पाँच हेतुओं (जन्म, औषधि, मन्त्र, तप और समाधि) में से किन्हीं भी हेतुओं द्वारा उसकी प्रज्ञाशक्ति का विशेष विकास करता है, जो कि सामान्य मनुष्यों की दृष्टि से सिद्धि कही जाती है। जिसको सामान्य मनुष्य अतीन्द्रिय कहते हैं, वह ऋषि के लिये सेन्द्रिय है। अर्थात् देश, काल वस्तु से व्यवहित विषय का प्रत्यक्ष सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता है, किन्तु ऋषि सभी समय एवं सर्वत्र स्थित सब पदार्थों का प्रत्यक्ष कर लेता है। वह विश्व के तत्व को यथार्थ रूप से जानता है– उसमें ज्ञान की पूर्णता होती है। ऋषि का ज्ञान कभी भी भ्रान्त नहीं होता। वह सर्वज्ञ ईश्वर से एक होता है। भाव यह है कि ऋषि पद में ही मानव के बाह्य एवं अन्त:करण का पूर्ण विकास होंता है; जिसमें वह आत्मदर्शन करता है।

ऋषि को व्यष्टि–समष्टि का भेद भ्रम नहीं मनुष्य ऋषि भाव को प्राप्त होकर, अर्थात् प्रज्ञा के पूर्ण विकास द्वारा व्यष्टि–समष्टि के भेदभ्रम की निवृत्ति करके, जब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक सामान्य मनुष्य की स्थिति में रहता हुआ,

उक्त जाग्रत अवस्था एवं व्यष्टि स्थूल शरीर में अभिमान करके विश्व कहलाता है। वस्तुतः यह व्यष्टि अभिमानी विश्व विराट् से भिन्न नहीं है। इसी बात को सूचित करने के लिये समष्टिवाचक विश्व नाम का निर्देश किया गया है। बात यह है कि आत्मा में भेद का प्रयोजक उपाधि होती है। जब उपाधियाँ भिन्न–भिन्न हैं, तो तत्–तत् उपाधि विशिष्ट भी भिन्न–भिन्न होता है। जिस प्रकार आकाश एक है, किन्तु घट रूपी उपाधि से उसको घटाकाश एवं मठरूपी उपाधि से मठाकाश कहते हैं। इसी प्रकार व्यष्टि स्थूल शरीर उपाधि वाले को विश्व एवं समष्टि स्थूल शरीर उपाधि वाले को विराट् कहते हैं। परन्तु जिस समष्टि–व्यष्टि के भेद से विश्व और विराट् का भेद है; वह समष्टि–व्यष्टि का भेद ही कल्पित है ग़स्तविक नहीं। जिस प्रकार जलदृष्टि से समुद्र और तरंग में भेद नहीं है, दोनों जल मात्र हैं। इसी प्रकार स्थूल पञ्चभूत की दृष्टि से व्यष्टि स्थूल शरीर और समष्टि स्थूल शरीर दोनों का भेद नहीं है। दोनों स्थूल पञ्चमहाभूत मात्र हैं।

भ्रम का कारण अज्ञान भ्रम की उत्पत्ति स्वरूपअज्ञान से होती है। इसी अज्ञान के कारण मिथ्या जगत को सत्य मान कर अपने आपको उसी के एक अंश अनात्म शरीर को मैं मान लेता है।

जाग्रत् पुरुष एवं जाग्रत् दृष्टा भ्रम इसको इसलिये कहते हैं क्यों कि जाग्रत् की व्यष्टि एवं समष्टि की स्थिति, स्वप्न

की व्यष्टि–समष्टि जैसी है। जिस प्रकार सम्पूर्ण स्वप्न की सृष्टि को स्वप्न दृष्टा साक्षी प्रकाशित करता है और वही स्वप्न कल्पित अन्तःकरण विशिष्ट होकर स्वप्न के शरीर में 'मैं' 'मेरा' करके स्वप्न–पुरुष कहा जाता है। उसी प्रकार जाग्रत् की सम्पूर्ण (समष्टि) सृष्टि को जाग्रत् दृष्टा प्रकाशित करता है और वही माया कल्पित अन्तःकरण विशिष्ट होकर जाग्रत् के स्थूल शरीर को 'मैं' 'मेरा' मानता हुआ जाग्रत् पुरुष अर्थात् विश्व कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि समष्टि का अध्यक्ष विराट् और व्यष्टि विश्व में तत्वतः कोई भेद नहीं है, केवल भेद का भ्रम मात्र है। अतः विश्व और विराट् की एकता को अनुभव करने के लिए तथा भेद भ्रम को मिटाने के लिए दोनों का अभेद चिन्तन करना चाहिए।

अकार वर्णन का उपसंहार

''एतत्त्रयम् अकारः''

स्थूल शरीर, जाग्रत् अवस्था एवं विश्व ये तीनों ॐकार की प्रथम मात्रा अकार हैं।

प्रारम्भ में ही हम कह चुके हैं कि ॐकार का निरूपण ही प्रणव बोध है। ॐकार की तीन मात्राएँ होती हैं:—अकार, उकार एवं मकार। अब तक स्थूल शरीर (विराट्), जाग्रत् अवस्था एवं इन दोनों के अभिमानी विश्व को बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि इन तीनों को ॐकार की पहली मात्रा 'अकार' समझना चाहिए। इन तीनों को एक साथ अकार कहने का तात्पर्य यह है कि ये तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं तथा इनकी सिद्धि भी परस्पर ही होती है।

इनको प्रथम मात्रा अकार कहने का कारण यह है कि सर्वप्रथम ये तीनों ही सिद्ध होते हैं। अकार भी सम्पूर्ण वर्णमाला में प्रथम एवं व्याप्त है, ये तीनों भी स्थूल चराचर में व्याप्त हैं। भाव यह है कि ॐकार व्याख्यान के प्रसंग में अब तक ॐकार की पहली मात्रा अकार की व्याख्या इस रूप में की गई कि—सम्पूर्ण स्थूल जगत्, जाग्रत् अवस्था और इन दोनों का अभिमानी विश्व ये तीनों अकार रूप हैं।

॥ अकार की व्याख्या पूर्ण हुई॥

सूक्ष्म शरीर का उपक्रम

पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के पच्चीस तत्वों से बने अनात्म स्थूल शरीर को, जिस सूक्ष्म शरीर के कारण वह अपने आपको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, स्थूल–कृश, श्याम–गौर, बाल–युवा, वृद्ध मानता है। पिता–पुत्र, भाई आदि का सम्बन्ध रखता है। इस स्थूल शरीर को सुख देने वाले को मित्र और दुख देने वाले को शत्रु मानकर, राग–द्वेष के वशीभूत होकर कर्म में प्रवृत्त होता है, और जिस शरीर के आधार पर यह स्थूल शरीर टिका हुआ है। जिसके चले जाने पर इसके सारे सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं और इस स्थूल–शरीर को तुरन्त जला देते हैं, दफना देते हैं या जल में प्रवाहित कर देते हैं, उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का प्रकार वर्णन आगे कर रहे है :–

''अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि पञ्चतन्मात्राणि तत्कार्यं च पञ्चप्राणाः दशेन्द्रियाणि मनोबुद्धिश्चेति सप्तदशकं लिङ्गं भौतिकं हिरण्यगर्भ इत्युच्यते''।

अपञ्चीकृत अर्थात् सूक्ष्मपञ्चमहाभूत (एवं उनके कार्यो का वर्णन करते हैं), अर्थात् आकाश–शब्दतन्मात्र, वायु–स्पर्शतन्मात्र, तेज–रूपतन्मात्र, जल–रसतन्मात्र एवं पृथ्वी–गंधतन्मात्र है।

हिरण्यगर्भ उक्त सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों से तपे हुये स्वर्ण के समान

देदीप्यमान आर्षप्रत्यक्ष सूक्ष्मब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है। इस ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अनन्त जीवों की अव्यक्त वासनाओं से युक्त हिरण्यगर्भ की एक साथ ही बिजली की चमक की तरह अभिव्यक्ति होती है। हिरण्यगर्भ इसको इसलिए कहते हैं, क्योंकि यह हिरण्यगर्भ, अर्थात पञ्चसूक्ष्महाभूतों का स्वर्णमय बृहद् अण्ड (ब्रह्माण्ड) ही उसका गर्भ अर्थात् उत्पत्ति स्थान है। हिरण्यगर्भ--ब्रह्मा है। क्योंकि वही स्थूल चराचर का कारण है। ब्रह्मा की उत्पत्ति का स्थान होने से सूक्ष्मभूतों के अण्ड को ब्रह्माण्ड कहते हैं क्योंकि स्थूल उस (ब्रह्मा) से उत्पन्न होता है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है :–

"तदण्डमभवत् हैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह:"।।

अर्थात् उस परमेश्वर से सूर्य के समान प्रकाशवाला स्वर्णमय ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। सम्पूर्ण स्थूल ब्रह्माण्ड चराचर के परमपिता स्वयं ब्रह्मा उससे ही उत्पन्न हुए।

तात्पर्य यह है कि प्रथम ईश्वर से सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं और सूक्ष्मभूतों से हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है। क्योंकि अगणित सूक्ष्मशरीरों की वासनामय–समष्टि को ही हिरण्यगर्भ कहते हैं और सूक्ष्मशरीर (पञ्चप्राण, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ एवं अन्त:करण) की उत्पत्ति सूक्ष्मभूतों से हुई है।

वासनाएँ अनन्त हैं वासनाएँ अनन्त प्रकार की होती हैं। उन अनन्त प्रकार की वासनाओं में से प्राय: एक–एक प्रकार की

वासना वाले अनन्त जीव होते हैं। ऐसी वासना वाले प्रायः जीव की अनन्त कल्पों की संचित अनन्त वासनाएँ समय–समय पर प्रकट होती रहती हैं, और उन प्रकट वासनाओं से अनन्त नवीन वासनाओं का जन्म होता रहता है। विशेष रूप से मनुष्य योनि ही नवीन वासनाओं की वृद्धि करती रहती है।

मनुष्य शरीर ही कर्मयोनि है क्योंकि अन्य योनियाँ तो केवल भोगयोनि हैं। भले ही वे पशु–पक्षी की योनि हों या देवता की। मानव योनि ही कर्मयोनि मानी गई है। इस योनि में पूर्व संचित कर्मो का फल सुख–दुःख भोगता हुआ मनुष्य नवीन कर्म भी करता है। कारण यह है कि मनुष्य योनि में ही क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास होता है। जैसाकि हम पहले वर्णन कर आये हैं। वासनाओं के इन रूपों का आदि, अन्त, मध्य, संख्या अथवा देश–काल या निमित्त का कोई निश्चत परिमाण नहीं किया जा सकता है कि ये इतने प्रकार के इतने ही हैं, क्योंकि ये अनन्त हैं। मुख्यतः वासनाओं की विचित्रता गुणों के तारतम्य से होती है। यों तो प्रत्येक में ही तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। किन्तु किसी में सत्वगुण[1], किसी में रजोगुण[2], किसी में तमोगुण[3], किसी में सत्वमिश्रित रजोगुण[4], किसी में रजोमिश्रित तमोगुण[5], किसी में सत्वमिश्रित तमोगुण[6] की प्रधानता होती है। तात्पर्य यह है कि किंचित गुणों के तारतम्य से ही इनके प्रकार में भेद हो जाते हैं। किसी में एक गुण की, किसी में दो गुण की और किसी में तीनों गुणों की प्रधानता होती है।

वासनाओं के छः प्रकार अनन्त जीवों की अनन्त वासनाओं का प्रधानतया निम्नलिखित छः प्रकार शास्त्रों में वर्णन किया गया है; जो कि यजुर्वेदीय वृहदारण्यकोपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र से स्पष्ट है:–

''तस्य हैतस्य पुरुषस्यरूपं,
यथामाहारजनं वासो यथा पांड्वाविकं
यथेन्द्रगोपो,
यथाग्न्यचिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तम्।''
(बृ० २/३/६)

उक्त श्रुति के आधार पर श्री विद्यारण्य स्वामी ने अपने ब्रृहदारण्यक वार्तिकसार में निम्नलिखित प्रकार से वासनाओं के अर्थात् मन के स्वरूपों का वर्णन किया है:–

हारिद्रं वसनं यद्वत्संसर्गात्पीततां व्रजेत्।
तद्वन्नार्यादिसंसर्गाल्लिङ्गं रागादिमद्भवेत्।।५८।।
ईषत्पाण्डुश्च परुषः स्यात् स्वतः श्वेतकम्बलः।
तथेषच्छ्रद्धया युक्तं स्वतो रागादिभागपि।।५९।।
इन्द्रगोपोऽतिरक्तः स्यात्स्वत एव तथा मनः।
विविक्तदेशस्थस्यापि विषयप्रवणं क्वचित्।।६०।।
अग्नेरर्चिर्यथाभास्वद्दहत्यपि तथा क्वचित्।
वेदशास्त्रविदप्यन्यान् बाधेर्ष्याद्युपद्रवैः ।।६१।।
सिताम्भोजं यथा सौम्यं सुगन्धि मृदु च स्वतः।
जन्मनैव तथाचित्तं युक्तं शमदमादिभिः।।६२।।

तीव्रविद्युद्यथाऽत्यन्तं घनध्वान्तापनोदकृत्।
तथा हिरण्यगर्भस्य सर्वथा वासना भवेत्।।६३।।
तमुपासीन आप्नोति श्रियमत्यन्तमूर्जिताम्।
रजःसत्वतमोयोगात् वासनानां विचित्रता।।६४।।

१ रजोमिश्रित सत्त्वगुण प्रधान मन

भावार्थ :–

पहला मन का प्रकार यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार हल्दी के रंग में रंगा वस्त्र पहले सफेद है, परन्तु हल्दी के पीले रंग के सम्बन्ध से पीला हो जाता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य का मन स्वभाव से शुद्ध रहता है, किन्तु विषयों के संयोग से सर्वथा उसमें तल्लीन हो जाता है, अर्थात रंग जाता है, राग युक्त हो जाता है।

जैसे कि विश्वामित्र ऋषि तपोबल से ब्रह्मर्षिपद प्राप्त कर चुके थे, किन्तु मेनका अप्सरा का जब संयोग प्राप्त हुआ तो वे उसमें आसक्त हो गये। उसी प्रकार सौभरि ऋषि की कथा है कि वे महान् तपस्वी शुद्धान्तःकरण एवं सिद्धि प्राप्त ऋषि थे। इतना होने पर भी जब एक बार उन्होंने जलचरों को विषयक्रीड़ा में देखा, तो उनके मन में भी सुप्त विषय–वासना जग गई। वे वैसा ही करने के लिये आतुर हो गये। फलस्वरूप अपने सिद्धिबल से आकर्षक युवावस्था एवं लावण्य प्राप्त करके एक दो नहीं, पचास राजकुमारियों का पाणिग्रहण किया और विषय क्रीड़ा में निमग्न हो गये। यह रजोमिश्रित सत्त्वगुण प्रधान मन का उदाहरण है !

२ रजः सत्त्वमिश्रित उभय प्रधान मन दूसरा मन का प्रकार यह बतलाया गया है कि जैसे–भेड़ की ऊन का बना हुआ साधारण कोटि का श्वेत कम्बल कुछ रूखापन एवं पीलापन लिए हुए मटमैला सा होता है। इसी प्रकार कुछ लोगों का मन स्वतः श्रद्धायुक्त होते हुए भी रागात्मक होता है, अर्थात् दैवी गुणों से युक्त होते हुए भी रागादि–दोषयुक्त भी होता है। जैसे कि सुग्रीव के जीवन में देखने में आता है। श्री हनुमान जी की कृपा एवं सम्पर्क से उनके जीवन में श्रद्धादि सात्त्विक गुण विद्यमान थे। जब वे ऋष्यमूक पर्वत पर निवास करते थे, तब उनका जीवन बड़ा ही सात्त्विक एक तपस्वी जैसा था। फिर भी उनके हृदय में स्त्री और सम्पत्ति की छिपी हुई लालसा थी। जब भगवान राम की कृपा से उनको अपनी सम्पति पुनः प्राप्त हो गई, तो सांसारिक राग–रंग में इतने आसक्त हो गये कि भगवान् राम से अपनी की हुई प्रतिज्ञा भी यहाँ तक भूल गये कि श्री लक्ष्मण जी को जाकर सावधान करना पड़ा एवं चेतावनी देनी पड़ी। तब वे अपनी कमजोरियों से अपने को परवश बतलाते हुए पुनः सात्त्विक भाव को प्राप्त हुए। यह रजः सत्त्वमिश्रित उभय प्रधान मन का उदाहरण है।

३ तमोगुणमिश्रित रजोगुण प्रधान मन तीसरा मन का प्रकार यह बतलाया गया है कि जैसे इन्द्रगोप (वीर बहूटी) स्वभाव से ही अत्यन्त लाल होती है। इसी प्रकार किसी का मन इतना विषयों में रमा हुआ रहता है कि जहाँ किसी भी विषय का

सम्पर्क नहीं है, ऐसे एकान्त स्थान में निवास करते हुए भी विषय–चिन्तन में ही निमग्न रहता है। कभी भी विषयों से उपरामता होती ही नहीं। अर्थात् अन्तिम दम तक वह विषयों को छोड़ना नहीं चाहता। उसकी वासनाएँ सदा ही अतृप्त रहती हैं। जैसे कि महाभारत में वर्णित राजा ययाति के जीवन में हम देखते हैं। राजा ययाति को पर्याप्त मात्रा में ऐश्वर्य एवं भोग प्राप्त था। वे जीवन भर स्वेच्छा पूर्वक भोगों में रत रहे। अन्त में वे जब अत्यन्त ही वृद्ध हो गये; इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं, तब ययाति ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों द्वारा विषयों को सेवन करने में सर्वथा असमर्थ थे; फिर भी उनकी आसक्ति इतनी प्रबल बनी रही कि वे अपनी अतृप्त वासनाओं को तृप्त करने के लिये अपने पुत्र की जवानी स्वयं ले लिये। पुन: वृद्ध होने पर भी अपने को उन्होंने अतृप्त पाया। यह तमोगुणमिश्रित रजोगुण प्रधान मन का उदाहरण है।

४ किञ्चित् तमोगुणमिश्रित सत्त्वगुण प्रधान मन चौथा मन का प्रकार यह है कि प्रज्ज्वलित अग्नि जैसे चमक एवं प्रकाशयुक्त होती है, साथ ही सम्पर्क होने पर जलाती भी है। इसी प्रकार किसी का मन ज्ञान, प्रकाशयुक्त एवं तीव्र तपोमय होता है। ऐसे महान् पुरुषों से ज्ञान तथा प्रकाश एवं अभीष्ट वरदान की प्राप्ति होती है, साथ ही उनके शाप से कभी–कभी महान् ताप या दु:ख एवं संकट की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। जैसे–दुर्वासा महर्षि के जीवन की अनेक घटनाओं से यह स्पष्ट होता है कि उनके मन की स्थिति इसी प्रकार की थी।

एक बार की घटना है कि कण्व ऋषि के आश्रम पर गये। वहाँ दरवाजा बन्द था। उन्होंने भोजन के लिए "नारायण हरि" किया। अन्दर शकुन्तला अपने प्रिय दुष्यन्त के चिन्तन में निमग्न थी। वह इतनी तल्लीन थी कि महर्षि दुर्वासा के कई बार आवाज लगाने पर भी उसने नहीं सुना। इस पर दुर्वासा कुछ खिन्न हुए। फिर उन्होने ध्यान लगाकर देखा तो उन्हें पता चला कि शकुन्तला अपने प्रिय के चिन्तन में निमग्न है। अतः मेरी आवाज को उसने नहीं सुना और अब तक दरवाजा नहीं खोला। इस पर दुर्वासा ने अपना अपमान माना और क्रुद्ध हो गये। क्रोधावेश में उन्होंने शाप दे दिया कि जिसके चिन्तन में तू अपनी सुध–बुध खो बैठी है वही तुझे भूल जायेगा। इस प्रकार का मन किञ्चित् तमोगुणमिश्रित सत्त्वगुण प्रधान मन है।

५ सत्त्वगुण प्रधान मन पाँचवे प्रकार के मन की उपमा पुण्डरीक अर्थात् श्वेत कमल से दी जाती है।

जिस प्रकार श्वेत कमल सुन्दर स्वभाव से सुगन्धयुक्त एवं कोमल होता है; इसी प्रकार किसी का चित्त जन्म से ही शमदमादि दैविक सात्त्विक गुणों से सम्पन्न होता है। जैसाकि शुकदेवजी के जीवन में देखने को आता है। श्री शुकदेवजी जन्म से ही पूर्ण सत्त्वगुण सम्पन्न शम–दमादि गुणों से युक्त सिद्ध महापुरुष थे। श्री शुकदेवजी के विषय में कहा जाता है कि वे किशोरावस्था में ही परमात्मा के ध्यान में निमग्न होकर घर से निकल पड़े थे। उनके पिता प्रसिद्ध महर्षि व्यास, पुत्र के मोह में पड़कर, श्री शुकदेवजी

को वापस करने के लिये उनके पीछे लगे। मार्ग में महर्षि व्यास ने दूर से ही देखा कि शुकदेव जी सामने से निकल गये और नग्न स्नान कर रही स्त्रियों ने कुछ भी संकोच नहीं किया। और न उनके मन में किसी प्रकार का विकार ही आया। जब स्वयं व्यास जी उनके सम्मुख से जाने लगे तो उन्हीं औरतों ने अपना–अपना शरीर ढकना प्रारम्भ कर दिया और बहुत लज्जित हुई। जब श्री व्यास जी ने जिज्ञासा की–कि ऐसा 'क्यों ! मैं वृद्ध हूँ, मुझसे शरम करती हो और जवान लड़के से बिल्कुल लज्जा नहीं हुई।'' तब उन स्त्रियों ने कहा, ''महाराज आपको स्त्री और पुरुष का भेद है, परन्तु आपके पुत्र की तो इतनी शुद्ध दृष्टि है कि उसके मन में पुरुषभाव और स्त्रीभाव ही नहीं रहा है''। इस प्रकार के मन को सत्त्वप्रधान मन कहते हैं।

६ शुद्ध सत्त्वप्रधान मन छठे प्रकार का मन प्रचण्ड विद्युत, अर्थात, बिजली की तरह होता है। जैसे प्रचण्ड विद्युत सहसा ही सम्पूर्ण घने अन्धकार को समाप्त कर देती है; इसी प्रकार का वह मन होता है, जो सर्वथा प्रकाशमान होता है। जिसे ईश्वरीय एवं सर्वप्रकाशक सर्वज्ञ कहते हैं। ऐसा मन हिरण्यगर्भ का होता है। हिरण्यगर्भ भगवान ही हैं। वह समष्टि के अधिष्ठाता हैं। उनमें राग–द्वेषादि दोषों का सर्वथा अभाव है। वह अपने से पृथक् किसी को भी नहीं देखते हैं, अर्थात् सबको अपने से एक देखते हैं।

हिरण्यगर्भ भगवान् की उपासना करने वाला सर्वत्र एक–साथ

फैलने वाली प्रज्ञा शक्ति से युक्त होता है। उसका अन्तःकरण व्यष्टिभाव को छोड़कर, उस समष्टि परमेश्वर से एक हो जाता है। वह सर्वज्ञ आर्ष दृष्टि प्राप्त करता है। वह अपने विशुद्ध चित्त में ही प्रतिबिम्बित सम्पूर्ण स्थूल–सूक्ष्म पदार्थों का अनुभव करता है; जैसाकि योगवाशिष्ठ का कथन है :–

''अन्तरेवानुभवति सर्वार्थान् प्रतिबिम्बितान्''।।

वह जहाँ अपने चित्त को केन्द्रित करता है, उसको वहाँ भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सभी चित्रों का साक्षात्कार हो जाता है। जैसाकि श्री वाल्मीकि महर्षि के जीवन से स्पष्ट है। पहले वाल्मीकि एक साधारण मनुष्य की भी कोटि में नहीं थें उनकी गणना हीन मनुष्यों में थी। परन्तु सत् पुरुष के संग से वे परमेश्वर की आराधना में लग गये। आराधना परिपक्व हुई और आर्ष दृष्टि मिली। प्रसिद्ध है कि उक्त ऋषिपद को प्राप्त करके महर्षि बाल्मीकि ने भगवान् राम के प्रकट होने से बहुत पहले ही उनके सम्पूर्ण जीवन का वृत्तान्त विस्तार से वर्णन कर दिया था। जैसे किसी प्रत्यक्षदर्शी ने वर्णन किया हो। इस प्रकार का अलौकिक ज्ञानशक्ति सम्पन्न उनका मन था। इस प्रकार का मन शुद्ध सत्त्वप्रधान मन कहा जाता है

आत्मा सदा शुद्ध एवं निर्विकार है आत्मा स्वभाव से शुद्ध एवं प्रकृति तथा उसके गुणों से परे है। क्योंकि अपने कार्य सहित प्रकृति उसमें अध्यस्त है। अतः जिस प्रकार रस्सी में कल्पित सर्प से रस्सी सर्वथा निर्लेप अर्थात् सर्प के दोषों से रहित, उससे

परे है, इसी प्रकार आत्मा सदा ही शुद्ध एवं गुणातीत है।

आत्मा में संसार औपाधिक है आत्मा में जो गुण–भेद–भाव एवं विभिन्नताएँ भासती हैं, वे सब उपाधिगत गुण–दोष तथा विभिन्नताओं के आरोप से हैं। आत्मा की मुख्य उपाधि अन्तःकरण या मन है। इसको वासना शब्द से भी शास्त्रकारों ने सम्बोधित किया है। क्योंकि, वासना अर्थात् संस्कारों के सर्वथा निवृत्त हो जाने पर मन अमनी भाव को प्राप्त होकर आत्मस्वरूप से ही स्थित हो जाता है। अतः मन वासनामय है। वासनाओं में बहुत तारतम्य होता है। शास्त्र सम्मत वासनाओं के कुछ प्रकार अभी–अभी ऊपर बतला चुके हैं। जिस प्रकार की वासना, अर्थात् मन होता है, आत्मा की उसी के साथ कल्पित एकता हो जाती है, जिसे तादात्म्याध्यास कहते हैं। जैसे मन के साथ तादात्म्याध्यास हो जाता है, आत्मा का वही स्वरूप भासने लगता है। मन के साथ तादात्म्यता का कारण यह है कि मन ही चेतन के आभास, अर्थात् प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है। और प्रतिबिम्ब में स्वभाव से ही उपाधि के धर्म भासते हैं। जैसे—जल से भरे कटोरे में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो, तो वह कटोरे के जल हिलने से हिलेगा और उस कटोरे को यदि लेकर चला जाय तो वह प्रतिबिम्ब भी चलता हुआ नजर आयेगा। उसका आरोप बिम्बरूपी चन्द्रमा में हो जाता है कि चन्द्रमा हिल रहा है इत्यादि। इसी प्रकार अन्तःकरण में राग, भय, हर्ष, क्रोध की जैसी वृत्ति उत्पन्न होती है चिदाभास में उसी का अध्यास हो जाता है और

उसका आरोप आत्मा में हो जाता है कि मैं शान्त हूँ, मैं अशान्त हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि। प्रतिबिम्ब अर्थात् आभास बिम्ब की सत्ता से सत्तावान् है। अतः मन का जो भी स्वरूप होता है, आत्मा का वही रूप भासने लगता है। ऐसी स्थिति में आत्मा की संज्ञा जीव हो जाती है।

जीव का स्वरूप जीव के स्वरूप में मुख्य तीन वस्तुएँ हैं– अधिष्ठान–चेतन, मन और मन में चेतन का आभास; अर्थात इन तीनों को मिलाकर जीव कहा जाता है। मन से नित्य सम्बद्ध पूरा अन्तःकरण, प्राण एवं कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों, इन सबका (मन शब्द से) ग्रहण होता है। इन्हीं अन्तरबाह्य करणों को मिलाकर इसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म–शरीर, सूक्ष्मशरीर में चिदाभास और अधिष्ठान चैतन्य इन तीनों के समुदाय को जीव कहते है। जैसाकि पंचदशीकार कहते हैं कि :–

''चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्च यः पुनः।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते''।। (४–११)

मनोऽनुसार जीवों के स्वरूप में महान तारतम्य हम कह चुके हैं कि मन के तारतम्य के अनुसार जीवों के स्वरूपों का भेद हो जाता है। मन के स्वरूप में इतना अधिक तारतम्य है कि जिसके कारण जीवों के स्वरूप में आश्चर्यजनक तारतम्य, अर्थात् ऊँच–नीच भाव देखने में आता है। पहले जो छः प्रकार का मन बतला चुके हैं, उनमें हिरण्यगर्भ का मन इतना उन्नत है कि ऐसे सर्वज्ञ मन उपाधि वाला हिरण्यगर्भ सामान्य जीवों के लिए आराध्य एवं ईश्वर

कोटि का है। क्योंकि सामान्य जीव व्यष्टि शरीरादि उपाधि को मैं, मेरा मानकर अज्ञानान्धकार एवं राग–द्वैष के दलदल में फँसकर परेशान और ब्यग्र हो रहा है। हिरण्यगर्भ का मन इतना महान् एवं स्वच्छ है कि न तो वह अपने से भिन्न किसी को देखता है और न उसमें अज्ञान का लेश है। वह परमार्थ बोधयुक्त एवं व्यवहारिक सर्वज्ञता को प्राप्त तथा अपने विशुद्ध और निर्भय आत्मानन्द से आप में तृप्त है।

(१) अधिष्ठान चेतन जीव के स्वरूप में जो तीन वस्तुएं बतलायी गई हैं, उनमें अधिष्ठान चैतन्य तो सबको सत्ता स्फूर्ति देने वाला परमार्थ सत्य है। जिस प्रकार दर्पण अन्धेरे में किसी प्रतिविम्ब को ग्रहण नहीं करता। सूर्यादि के प्रकाश में ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, इसी प्रकार चेतन आत्मा से प्रकाशित हुआ चित्त ही विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

(२) चिदाभास चिदाभास उसी चेतन का सूक्ष्मशरीर में आभास है। सत्–चित्– आनन्द आत्मा का आभास होते हुए भी उसका स्वरूप चिदाभास, अन्तःकरण की वृत्ति (मैं नहीं रहूँगा, मैं अज्ञानी हूँ, मैं दुःखी हुआ आदि) के अनुसार ही भासता है, एवं जब तक अन्तःकरण रहता है, तब तक ही वह रहता है। जैसे–घड़े में जल भरा है, उसमें सूर्य का प्रतिविम्ब पड़ रहा है। जिस प्रकार घड़े के टूट जाने पर जल निराधार होकर धीरे–धीरे समाप्त हो जाता है, फिर प्रतिविम्ब स्वतः ही गायब होकर केवल विम्ब मात्र हो जाता है। इसी

प्रकार ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होने पर लेशाऽविद्या के साथ ही प्रारब्ध क्षय हो जाने से अन्तःकरण का विलय होने के साथ ही चिदाभास नहीं रह जाता, केवल आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।

(३) सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म शरीर अन्तः बाह्यकरणएवं प्राणों का समुदाय है। उसकी उत्पत्ति निम्नप्रकार से स्पष्ट की जा रही है।

सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों के सात्त्विक अंश से समष्टि हिरण्यगर्भ एवं व्यष्टि जीवों की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं। उन्हीं के रजोगुण अंश से पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं पाँच प्राणों की उत्पत्ति होती है। तमोगुण अंश से पाँच विषयों का उत्पत्ति होती है। किस तत्त्व से किसकी उत्पत्ति होती है, यह निम्न कोष्ठक के द्वारा द्रष्टव्य है :–

आकाशादि पञ्चभूतों से अन्तःकरण पञ्चकादिकों की उत्पत्ति

सूक्ष्म पञ्चभूत	सात्त्विक अंश		रजोगुण–अंश		तमो–अंश
	अन्तःकरण	पंचज्ञानेन्द्रियाँ	पंचप्राण	पंचकर्मेन्द्रियाँ	पंचविषय
आकाश	स्फुरण	श्रोत्र	व्यान	वाचा	शब्द
वायु	मन	त्वचा	समान	पाणि	स्पर्श
तेज	बुद्धि	चक्षु	उदान	पाद	रूप
जल	चित्त	जिह्वा	प्राण	शिश्न	रस
पृथ्वी	अहंकार	घ्राण	अपान	गुदा	गंध

सात्त्विकादि अंशो से ज्ञान करणादिकों की उत्पत्ति

"सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्" इत्यादि शास्त्र वचनों से सिद्ध है कि सत्त्वगुणसे ज्ञान होता है। और चूँकि अन्तःकरण एवं पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है, अतः इनकी उत्पत्ति सूक्ष्मभूतों के सत्वगुण अंश से मानी गई है। रजोगुण द्वारा क्रिया होती है और चूँकि पाँच प्राण तथा पाँच कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म होता है, इसलिए इन्हें रजोगुण अंश से उत्पन्न माना है। पंचविषय ज्ञान रहित अर्थात् जड़ हैं। अतः इनकी उत्पत्ति तमोगुण अंश से बतलाई है।

सूक्ष्म आकाश का कार्य (१) स्फुरण रूप अन्तःकरण, हृदयाकाश में उत्पन्न होता है और वहीं उसका लय हो जाता है। अतः इसे आकाश से उत्पन्न माना गया है। (२) व्यान सब अंगों में आकाश की तरह व्याप्त होने से आकाश का माना गया है। (३) श्रोत्रेन्द्रिय आकाश के गुण—शब्द को ग्रहण करती है। अतः आकाश की मानी गई है। (४) वागिन्द्रिय से आकाश के गुण शब्द का उच्चारण होता है अतः आकाश की है। (५) शब्द तो आकाश का गुण ही है।

सूक्ष्म वायु का कार्य (१) मन वायु की तरह चंचल है। अतः इसकी उत्पत्ति वायु से मानी गई है। (२) समान स्वयं वायुरूप है; इसलिए वायु से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। (३) त्वगिन्द्रिय से वायु के गुण स्पर्श का ज्ञान होता है। अतः यह वायु की मानी गई है। (४) मुख्य रूप से हस्तेन्द्रिय द्वारा वायु के गुण

स्पर्श की अनुभूति होने से यह वायु की मानी गई है; (५) स्पर्श तो वायु का गुण ही है।

सूक्ष्म तेज का कार्य (१) बुद्धि प्रकाशयुक्त तेजोमय है। अत: तेज से इसकी उत्पत्ति मानी गई है। (२) उदानवायु कण्ठ में अन्न–जल का विभाग करके उसे जठराग्नि में पहुंचाती है। इसलिये अग्नि की मानी गई है। (३) चक्षु–इन्द्रिय तेज के गुण रूप को ग्रहण करती है। अत: तेज से उसकी उत्पत्ति मानी गई है। (४) पादेन्द्रिय में विशेष उष्णता रहती है और तेज के गुण–रूप को देखने के लिये ले जाती है, इसलिए इसको तैजस मानते हैं। (५) रूप–गुण तो तेज का है ही।

सूक्ष्म जल का कार्य (१) चित्त जल की तरह द्रवीभूत होता है; अत: जल का कहा जाता है। (२) प्राणवायु जल के बिना रहती नहीं; इसलिए जल की मानी गई है। (३) रसनेन्द्रिय (जिह्वेन्द्रिय) जल के गुण रस को ग्रहण करती है तथा सदा आर्द्र (गीली) रहती है; अत: जल की है। (४) शिश्नेन्द्रिय जल के कार्य मूत्र एवं वीर्य का त्याग करती है अत: जल की है। (५) रस तो जल का गुण है ही।

सूक्ष्म पृथ्वी का कार्य (१) अहंकार पृथ्वी की भांति भारी तथा जड़ है, इसलिये पृथ्वी का है। (२) अपानवायु पृथ्वी के मल भाग को गुदाद्वार से बाहर निकालती है; अत: पृथ्वी की है। (३) घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के गन्धगुण को ग्रहण करती है अत: पृथ्वी की है।

(४) गुदेन्द्रिय पृथ्वी के मल भाग की त्यागती है; इसलिए पृथ्वी की है। (५) गन्ध गुण तो पृथ्वी का ही है।

पञ्चप्राण पञ्च प्राणों के नाम क्रमशः ये हैं :– ब्यान, समान, उदान, प्राण एवं अपान।

(१) ब्यान– यह सारे शरीर में रहता है एवं शरीर के सभी जोड़ों की मोड़नादि–क्रिया इसके द्वारा होती है।

(२) समान– यह वायु नाभि स्थान में रहती है। मनुष्य जो अन्नादि खाता है वह अन्नादि जाठराग्नि में पककर स्थूल, मध्यम एवं सूक्ष्म ऐसे तीन भागों में विभक्त हो जाता है। इसमें अन्न का जो अतिसूक्ष्म भाग होता है वह शरीर में हृदय के ऊपर आकर मन–बुद्धि को पुष्ट करता है। अन्न और जल का स्थूल भाग मल और मूत्र–रूप असार होता है। वह गुदा और लिङ्ग द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है। बाकी बचा हुआ अन्न–जल के मध्यम रस रूपी भाग को समान वायु नाड़ियों द्वारा सारे शरीर में रोम–रोम में पहुंचाती है। इस रस के परिणाम रुधिर, माँसादि से सारा शरीर पुष्ट होता है। सारे शरीर में यदि अन्न–जल का रस बराबर न पहुंचे, तो सभी अवयव पुष्ट ही न हों। जिस प्रकार माली कुएँ से पानी निकाल कर नालियों द्वारा बगीचे में जगह–जगह सभी वृक्षों को समान रूप से पहुंचाता है, जिससे वृक्ष हरे–भरे रहते हैं। इसी प्रकार समान वायुरूपी माली देहरूपी बगीचे में अवयव तथा रोमरूपी वृक्षों को अन्न–जल के रसरूपी पानी को नाड़ियों द्वारा पहुंचाकर सारे

शरीर को पुष्ट करता है।

(३) उदान– यह वायु कण्ठस्थान में रहती है। मनुष्य जो अन्न–जल खाता–पीता है, उसका यह अलग–अलग विभाग करती है और कण्ठ में अतिसूक्ष्म हिता नाम की जो नाड़ी है, उसमें स्वप्न दिखाती है एवं हिचकी लाती है।

(४) प्राण– यह वायु हृदय स्थान में रहती है और रात–दिन मिलाकर २१६००, श्वासोच्छ्वासरूपी कर्म करती है।

(५) अपान– यह वायु गुदा स्थान में रहती है और मल त्याग कराती है।

पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ उपर्युक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना एवं नासिका, क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध को ग्रहण करती हैं। अर्थात् पाँचों विषयों के ज्ञान के साधन हैं। इसलिये इनको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं।

पंच कर्मेन्द्रियाँ इसी प्रकार–वाक्–पाणि–पाद–पायु एवं उपस्थ ये पाँचों कर्म के साधन हैं। अतः इनको कर्मेन्द्रिय कहते हैं पाणि (हाथ) संग्रहादि, पाद (पैर) से गमन, पायु (गुदा) से मल त्याग एवं उपस्थ (लिङ्ग) से मूत्र त्याग रूप कर्म होता है।

अन्तःकरणपंचक कोष्ठक तथा उसकी व्याख्या के द्वारा अन्तःकरण की उत्पत्ति का वर्णन किया जा चुका है। वहाँ सूक्ष्म पञ्चमहाभूतों के सात्विक अंश से क्रमशः [1]स्फुरण, [2]मन, [3]बुद्धि, [4]चित्त एवं [5]अहंकार, इस प्रकार अन्तःकरण पञ्चक की उत्पत्ति

बतलाई गई है।

१—स्फुरण अन्तःकरण पञ्चक में स्फुरण अन्तःकरण का प्रथम भाव है; हृदयाकाश में प्रकट होने वाला स्फुरण कामना का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है।

२—मन जो स्फुरण हुआ, उस पर जो संकल्प—विकल्प होता है, वह संकल्प—विकल्प ही मन का स्वरूप है। वायु से उत्पन्न होने के कारण मनोमयी वृत्ति चंचलात्मिका है।

३—बुद्धि संकल्प—विकल्प के अनन्तर या केवल स्फुरण मात्र से जो निश्चयात्मिका वृत्ति होती है, उसको बुद्धि कहते हैं, और वह निश्चयात्मिका बुद्धि वृत्ति दो प्रकार की होती है :— (१) प्रमाण (२) विपर्यय।

[1]प्रमाणवृत्ति—अर्थात् यथार्थ ज्ञानरूपा। [2]विपर्ययवृत्ति अर्थात् भ्रमज्ञानरूपा।

ये बृत्तियाँ यदि अनुकूल होती हैं तो सुख रूप एवं प्रतिकूल होती हैं तो दुःख रूप होती हैं।

देश—काल, अधिकारी (वस्तु) के भेद से ये अनुकूल एवं प्रतिकूल वृत्तियाँ परिवर्तनशील होती हैं।

तेज से उत्पन्न होने के कारण बुद्धिवृत्ति प्रकाशरूपा है, अतएव निश्चयात्मिका होती है।

४—चित्त चिन्तनात्मक वृत्ति को चित्त कहते हैं। भाव यह है कि उक्त स्फुरण, संकल्प—विकल्प, एवं निश्चयात्मिका वृत्ति के संग्रहीत

संस्कारों का समय–समय पर प्रकट होकर राग–द्वेषादि उत्पन्न करते हुए, प्रवाहित होना ही चिन्तन है। वह प्रवाह भी यदि अनुकूल वृत्तिरूप हुआ तो सुख का एवं प्रतिकूल वृत्तिरूप हुआ तो दु:ख का कारण होता है। इस प्रकार से चित्त ही सुख–दु:ख का कारण भी होता है। जल से उत्पन्न होने के कारण चित्त जल की तरह द्रवीभूत तथा संस्कारों को ग्रहण कर संचित एवं प्रकट करने में समर्थ होता है।

५—अहंकार अहंकार अभिमानात्मक वृत्ति है। तात्पर्य यह है कि शरीर से, इन्द्रियों से, इन्द्रियों की क्रियाओं से एवं अन्त:करण से आत्मा की एकता जिस वृत्ति से भासती है, उस वृत्ति को अहंकार कहते हैं। जैसे कि शरीर से एकता करके कहता है कि मैं मनुष्य मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, इत्यादि। इसी प्रकार वृत्तियों से एकता करके, मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, इत्यादि मानता है। पृथ्वी से उत्पन्न होने के कारण अहंकार वृत्ति भारी एवं जड़ है।

आकाशादि तत्त्वों के अनुसार ही तत्तद्वृत्तियों की प्रधानता उक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि आकाशादि तत्त्वों की प्रधानता के अनुसार ही अमुक वृत्ति की प्रधानता होती है। अर्थात् देश–काल, भोजनादि पदार्थों के संसर्ग से स्थूल शरीर में अमुकतत्त्व की प्रधानता होती रहती है। तत्तत् तत्त्वों की प्रधानता का प्रभाव अन्त:करण पर पड़ता है और उसके अनुसार ही उन–उन वृत्तियों की प्रधानता होती रहती है।

अन्तःकरण के दो से पाँच तक भेद अन्तःकरण की मुख्यरूप से चार अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। स्फुरणरूप जो प्रथम अवस्था है, उसको बुद्धि या अहंकार के अन्तर्गत मान लिया जाता है। अतएव अन्तःकरण चतुष्टय इस प्रकार से शास्त्रों में आता है। इन चार में भी चिंतनात्मक चित्त को मन में और अहंकार को बुद्धि में अन्तरभाव करके मन और बुद्धि दो ही अवस्थाएँ मुख्यरूप से अन्तःकरण की मानी जाती हैं। अतएव पहले सूक्ष्मशरीर के सत्रह अवयवों में मन और बुद्धि दो को ही लिया है। इसलिये पहले 'सप्तदशकम्' कहा है। वाक्यसुधा में सामान्य नाम 'बुद्धि' ऐसा निर्देश करके उसके अहंकार एवं अन्तःकरण ये दो भेद बतलाये हैं– (एकाहंकृतिरन्या स्यादन्तः करणरूपिणी)।

(केवल) मन, बुद्धि और चित्त भी अन्तःकरण के पर्याय हैं

ये मन–बुद्धि भी सामान्यरूप से अन्तःकरण इस एक नाम से ही कहे जाते हैं। कहीं कहीं पूरे अन्तःकरण को केवल बुद्धि, केवल चित्त एवं केवल मन शब्द से ही सम्बोधित किया है। जैसेकि ऊपर एक बुद्धि के ही अहंकार और अन्तःकरण दो भेद कहे हैं एवं बृहदारण्यक उपनिषद् में भी केवल मन को पूरे अन्तःकरण के अर्थ में लिया है तथा उसकी दश अवस्थाओं को दर्शाया है।

''कामःसंकल्पो विचिकित्साश्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव''। (बृ० १–५–३)

काम[1]—स्त्री सम्बन्धी अभिलाषादि। संकल्प[2]—सम्मुखस्थ विषय की शुक्ल, नीलादि भेद विशेष की कल्पना करना। विचिकित्सा[3]—संशय—ज्ञान। श्रद्धा[4]—जिनका फल अदृष्ट है, उन कर्मों और देवतादि में आस्तिक भाव रखना। अश्रद्धा[5]—श्रद्धा से विपरीत भाव रखना। धृति[6]—धारण अर्थात् देहादि के शिथिल होने पर उन्हें सँभाले रखना। अधृति[7]— इसके विपरीत होना। ह्री[8]—लज्जा। धी[9]—बुद्धि। और[10]भी—भय इत्यादि प्रकार के सभीभाव मन ही हैं—ये सब दशों मन अर्थात् अन्तःकरण के रूप हैं।

माया के गुणों का स्वरूप एवं कार्य यावन्मात्र सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणमयी माया का ही विकार है। पृथ्वी में या स्वर्ग में अथवा देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो प्रकृति के तीनों गुणों से रहित हो। सत्त्वगुण प्रकाश करने वाला, स्वच्छ, निर्दोष होने के कारण सुख की ओर लगाता है। रजोगुण रागरूप, कामना एवं आसक्ति उत्पन्न करने वाला होने के कारण कर्म में लगाता है। तमोगुण अज्ञानरूप होने के कारण ज्ञान को ढककर प्रमाद—आलस्य, निद्रादि में लगाता है। रजोगुण एवं तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है। रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है। वैसे ही तमोगण एवं सत्वगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है। जिस काल में सत्त्वगुण बढ़ता है, उस काल में देह, अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतना और बोध—शक्ति उत्पन्न होती है। जिस काल में रजोगुण बढ़ता है, उस काल में लोभ, प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा, सर्व प्रकार की स्वार्थ बुद्धि से कर्मों

का आरम्भ अशान्ति अर्थात् मन की चंचलता और विषय–भोगों की लालसा उत्पन्न होती है। जिस काल में तमोगुण बढ़ता है, उस काल में अन्तःकरण एवं इन्द्रियों में अप्रकाश एवं कर्त्तव्य–कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरण की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। मनुष्य जब सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करने वालों के मल रहित दिव्य स्वर्गादि लोकों को प्राप्त होता है। रजोगुण की वृद्धि मे मृत्यु को प्राप्त होता है तो कर्मो की आसक्ति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है तथा तमोगुण के बढ़ने पर मरा हुआ कीट–पशु आदि मूढ़ योनियों में उत्पन्न होता है।

अन्तःकरण भी त्रिगुणात्मक है जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कि सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक है। अतः जिस अन्तःकरण का वर्णन प्रस्तुत है, वह भी त्रिगुणात्मक है, गुणों के तारतम्य से ही अन्तःकरण के छः प्रकार बतला चुके हैं।

सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण की दृष्टि से कोई अन्तःकरण स्वभाव से सत्त्वगुण प्रधान, कोई रजोगुण प्रधान, कोई तमोगुण प्रधान होता है। जैसाकि बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार प्रथम छः प्रकार की वासनाओं अर्थात् मन (अन्तःकरण) का वर्णन कर चुके हैं। स्वभावतः श्रद्धा एवं कर्म अन्तःकरण के अनुरूप ही होते हैं।

वर्ण एवं युग भेद भी गुणों से है प्रसिद्ध–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र यह चार प्रकार का भेद एवं सत्युग, त्रेता,

द्वापर और कलियुग भी गुणों के तारतम्य एवं तदनुसार कर्मों के भेद से ही हैं। सात्त्विक, राजस एवं तामस ये तीन भेद तो बिना तारतम्य के स्वत: ही सिद्ध होते हैं; जैसे–देव, असुर एवं राक्षस।

दैव और आसुर त्रिगुणात्मक प्रकृति के भेद को प्रधान रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है। जो कि मुख्यरूप से अन्त:करण का ही भेद है; वह है एक दैवी सम्पत्तिवाला अन्त:करण और दूसरा आसुरी सम्पत्तिवाला अन्त:करण। इसी द्विविध अन्त:करण के भेद से मनुष्यों की या जीवों की सृष्टि भी दो प्रकार की मानी गई है। जैसाकि भगवान् ने गीता में कहा है :–

''द्वौभूतसर्गोलोकेऽस्मिन् दैव आसुरएव च''। (गीता–१६/६)

सात्त्विक मनुष्य सत्त्वगुण प्रधान अन्त:करण वाला व्यक्ति प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य, भय और अभय को, बन्धन तथा मोक्ष को तत्त्व से जानकर पृथक्–पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्मभाव को विभाग रहित (समभावस्थित) देखता है। आसक्ति से रहित और अहंकार के बचनों को न बोलने वाला, धर्म तथा उत्साह से युक्त एवं कार्य सिद्ध होने और न होने में हर्ष, शोकादि विकारों से रहित रहता है। देवताओं को पूजता है। आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसयुक्त चिकने और स्थित रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय लगने वाले सात्त्विक आहार करता है। शास्त्र–विधि से नियत किया हुआ, यज्ञ–फल की इच्छा न रखकर 'करना ही

कर्त्तव्य है', इस भाव से यज्ञादि करता है तथा फल की इच्छा न रखना ही सात्त्विक त्याग कहा जाता है; इस प्रकार वह सात्त्विक त्यागी कहलाता है। देवता, ब्राह्मण, गुरु आदि ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा रूपी जो शरीर सम्बन्धी तप है उसे तथा जो उद्वेग को न करने वाला प्रिय, हितकारक एवं यथार्थ भाषण है एवं–शास्त्रों के पढ़ने तथा परमेश्वर के नाम जपने का अभ्यासरूपी जो वाणी सम्बन्धी तप है उसे एवं मन की प्रसन्नता और शान्तभाव भगवत् चिन्तन करने का स्वभाव, मन का निग्रह और अन्तःकरण की पवित्रतारूपी जो मन सम्बन्धी तप है, उसे करता है। देश–काल, पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार की भावना न रख, दान देना ही कर्त्तव्य है, यह समझकर दान देता है और साधन के आरम्भकाल में जो विष के सदृश भासता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, उस भगवत्–विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख प्राप्त करता है। उस सात्त्विक मनुष्य के दुःखों का अन्त हो जाता है।

राजस मानव रजोगुण प्रधान अन्तःकरण वाला व्यक्ति धर्म और अधर्म को, कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य को यथार्थ में न जानने वाला सम्पूर्णभूतों में भिन्न–भिन्न प्रकार के भावों को न्यारा–न्यारा करके जानता है। वह आसक्ति से युक्त कर्मों के फलों को चाहने वाला और लोभी दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला अशुद्धाचारी हर्ष–शोक से लिपायमान रहता है। यक्ष और राक्षसों को पूजता है; कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त और अति गरम तथा तीक्ष्ण रूखे, दाहकारक

एवं दुःख—चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले राजस आहार करता है। यज्ञ केवल दम्भाचरण के ही लिए अथवा फल का उद्देश्य रखकर करता है, अथवा शारीरिक क्लेश के भय से कर्म सब दुःख—रूप हैं; इस भाव से उनका त्याग करता है। ऐसे त्याग करने वाले को त्याग के फल की प्राप्ति नहीं होती है; क्योंकि यह राजस त्याग है। सत्कार, मान, पूजा के लिए या केवल पाखण्ड से ही किये जाने वाले अनिश्चित और क्षणिक फल वाले—शरीर सम्बन्धी, वाणी सम्बन्धी एवं मन सम्बन्धी जो तप हैं, उन्हें करता है तथा विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख प्राप्त होते हैं, जो कि भोग काल में अमृत के सदृश भासते हैं, परन्तु परिणाम में विष सदृश होते हैं, उन्हें प्राप्त करता है।

तामस जन तमोगुण प्रधान अन्तःकरण वाला व्यक्ति अधर्म को धर्म मानकर तथा और भी सम्पूर्ण अर्थों को विपरीत मानने वाला एक कार्यरूप शरीर में सम्पूर्णता के सदृश आसक्त हुआ, बिना युक्तिवाला एवं सार रहित होता है। विक्षेप युक्त चित्तवाला शिक्षा से रहित घमण्डी, धूर्त और दूसरों की आजीविका का नाशक, शोक करने वाला, आलसी और दीर्घसूत्री होता है। प्रेत और भूतगणों को पूजता है। अधपका, रस रहित, दुर्गन्धियुक्त, बासी, उच्छिष्ट्र (जूठा) एवं जो अपवित्र भी है, वह भोजन करता है। शास्त्र विधि से हीन, अन्नदान से रहित, बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के और बिना श्रद्धा के यज्ञ करता है। नियत कर्म का मोह से त्याग है, ऐसे तामसी त्याग से वह तामसी त्यागी कहलाता है। मूढ़तापूर्वक हठ से,

मन–वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित दूसरों का अनिष्ट करने के लिए शरीर सम्बन्धी, वाणी सम्बन्धी तथा मन सम्बन्धी तप करता है। बिना सत्कार अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश–काल में कुपात्रों को दान देता है। जो सुख भोगकाल में और परिणाम में भी मोह में डालने वाला और जो निद्रा, आलस्यप्रमाद से उत्पन्न सुख है, उसे प्राप्त करता है।

संसर्गादिवश कदाचित् स्वभाव विपरीत भी आचरण होता है ऊपर सात्त्विक, राजस एवं तामस मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति, स्थिति एवं साधनादि का वर्णन किया गया है। इसमें विशेष उल्लेखनीय है कि कभी सात्त्विक व्यक्ति भी रजोगुणी, तमोगुणी प्रवृत्ति में रत होता है और राजसी प्रवृत्ति वाला कभी सात्त्विक प्रवृत्ति करता है तो कभी घोर तामसी प्रवृत्ति भी कर बैठता है। इसी प्रकार तामसी प्रकृति वाला कभी–कभी सात्त्विक कर्म करते हुए देखने में आता है तो कभी राजसी प्रवृत्ति में तल्लीन होता है। अपनी प्रकृति के विपरीत प्रवृत्ति देखकर उसे स्वयं भी आश्चर्य होता है एवं अन्य लोग भी आश्चर्य करते हैं। कितना भी कोई आश्चर्य करे, परन्तु होता है ऐसा जरूर और ऐसा निष्कारण नहीं है। उसका भी कारण है; जो सर्व सामान्य है ध्यान में नहीं आता और वे कारण मुख्य रूप से चार होते हैं :–

(१) व्यक्ति विशेष का संसर्ग (२) देश विशेष (३) काल विशेष एवं (४) वस्तु विषेष का सम्बन्ध। इन चारों में से एक, दो या तीन अथवा चारों के संयोग से अन्तःकरण में सूक्ष्मरूप से स्थित निज

प्रकृति के विपरीत भाव भड़क उठते हैं। क्योंकि तीनों गुणों के भाव न्यूनाधिक रूप में सभी के अन्तःकरण में विद्यमान रहते हैं, वृद्धि को प्राप्त होकर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति से विपरीत प्रवृत्ति करा देते हैं।

व्यक्ति विशेष का संसर्ग महापुरुषों का, सन्तों का संसर्ग पाकर दुष्ट मनुष्य भी सुकृति कर लेता है। जैसा कि गोस्वामी जी ने कहा :–

'खलहु करहिंभल पाइ सुसंगू'।

इसी प्रकार सात्त्विक व्यक्ति भी दुष्ट के संग में पड़कर अपनी प्रकृति से विपरीत हो जाता है और रजोगुणी तथा तमोगुणी प्रवृत्ति कर बैठता है। जैसे–मंथरा के संग से कैकेयी की सात्त्विक बुद्धि पलटकर राजसी एवं तामसी बुद्धि हो गई। इस प्रकार साक्षात् संसर्ग से बुद्धि पर प्रभाव पड़ता है; इसी प्रकार केवल मानसिक सम्बन्ध से भी बुद्धि प्रभावित होती देखने में आती है। जैसे–कोई किसी के लिए बुरा सोचता है तो उसके प्रति सामने वाले में भी बुरे भाव प्रकट होने लगते हैं।

देश विशेष देश विशेष का भी मन पर प्रभाव पड़ता है, पवित्र स्थान में जाने पर मन में शान्त, सात्त्विकभाव प्रकट होते हैं। इसके विपरीत कोई ऐसा स्थान भी होता है, जहाँ जाते ही मन में दुर्भाव प्रकट होने लगते हैं। जैसे–एकान्त, शान्त एवं पवित्र गंगा तट पर पहुंचते ही वहाँ पर सात्त्विक भगवद्भाव प्रकट होने लगते हैं। और

प्रवृत्तिशील रजोगुणी शहरों में बाजार के बीच जाते हैं, तब वहाँ साँसारिक चंचलवृत्ति वाले राजसी भाव प्रकट होने लगते हैं। इसी प्रकार हिंसादि प्रधान तामसी स्थान में पहुंचते ही मन में तामसी, हिंसादि के भाव प्रकट होने लग जाते हैं।

काल विशेष समय भेद से अन्तःकरण में भेद देखने में आता है। योतो सामान्य रूप से ऐसा देखने में आता है कि प्रातःकाल की वृत्ति कुछ और होती है, तथा सांय काल की वृत्ति कुछ और। परन्तु किसी विशेष समय पर, विशेष परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे–सुना जाता है कि युधिष्ठिर के समय में एक भूमि–विक्रेता तथा एक क्रेता में इस बात को लेकर मुकदमा चल रहा था –भूमि क्रेता का कहना था कि भूमि में जो सोना मिला है, वह तुम्हारा है, मेरा नहीं। मैंने भूमि को खरीदा है, इसके अन्दर रहने वाला सोना नहीं खरीदा है। भूमिविक्रेता का कहना था कि जब मैंने भूमि बेच दी है तो इसमें चाहे जो भी निकले, उस पर मेरा हक नहीं है। यह मामला युधिष्ठिर के समय में तय न होकर, जब दुर्योधन के समय में पेश हुआ, तो इस मामला का रूप ही बदल गया। अब भूमि विक्रेता कहने लगा कि मैंने भूमि बेची है अन्दर का सोना नहीं बेचा है; अतः सोने पर मेरा हक है। क्रेता कहता है कि जब भूमि मैंने खरीदी है तो इसमें जो भी कुछ था उसपर मेरा अधिकार है। यह है समय का अन्तःकरण पर प्रभाव। समय के फेर से ही सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग इन युगों का भेद माना जाता है। परिवर्तनशील काल के कारण ही मुहुर्त को बहुत महत्त्व दिया जाता

है।

बस्तु विशेष विशेष प्रकार की वस्तुओं का सम्बन्ध भी अन्तःकरण में परिवर्तन कर देता है; वस्तु से तात्पर्य भौतिक रस–धातु, रत्न एवं भोज्य, पेयादि पदार्थ से है। आयुर्वेदिक पद्धति से सम्पादन किया हुआ रस, रसायन विशेष बुद्धि पर चमत्कारी प्रभाव डालता है; ज्योतिष शास्त्र के अनुसार अमुक व्यक्ति के लिये अमुक प्रकार की धातु एवं रत्न उसकी बुद्धि को स्वस्थ रखने के लिये उपयोगी होता है। भोज्यपेय पदार्थों में मादक द्रव्यों का तो बुद्धि पर तत्काल ही प्रभाव पड़ता है। और भी उपर्युक्त प्रकार से सात्त्विक, राजस एवं तामस भोजन का प्रभाव उसके अनुसार ही होता है। पहले यह भी कह चुके हैं कि आहार के अनुसार ही मन का निर्माण होता है; जैसा कि सामवेदीय छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है कि, ''अन्नमयंहि सोम्य मनः।'' अर्थात् उद्दालक ऋषि श्वेतकेतु से कह रहे हैं कि हे सोम्य ! यह मन अन्नमय है। लोकोक्ति भी है ''जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन'' अन्न का प्रभाव इस बात पर भी निर्भर करता है कि उसका उपार्जन किस प्रकार से हुआ है; उसको बनाने वाला कैसा है और किस भाव से बनाया तथा खिलाया है एवं भोजन करने वाले ने भी किस प्रकार से भोजन किया है। जैसे कि पितामह भीष्म ने कहा है कि ''जब मैं दुर्योधन का दूषित अन्न खाता था तो मेरी बुद्धि भी दोषपूर्ण हो गई थी। मैं अन्याय को भी न्याय समझने लगा था''–इत्यादि अनेक उदाहरण मिलते हैं।

शरीर और मन का परस्पर प्रभाव अन्तःकरण की स्थिति का स्थूल शरीर पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है। जैसे—यदि मन खिन्न हो तो स्वस्थ व्यक्ति भी अस्वस्थ हो जाता है। इसमें अर्जुन का उदाहरण बड़ा ही प्रसिद्ध है—जब स्वजनों को देखकर उनके विनाश के भय से उसका चित्त व्याकुल एवं शोकग्रस्त हो गया, तब अर्जुन के शरीर पर उसका इतना प्रभाव पड़ा कि उसका मुख सूखने लगा, धनुष को सँभालने एवं खड़ा होने में भी वह समर्थ न रहा। इसी प्रकार अस्वस्थ—बीमार व्यक्ति भी जब अपने प्रिय को देखता है तो उसका चेहरा खिल उठता है। जैसा कि किसी शायर ने कहा है :—

'उनके देखने से जो चेहरे पै आ जाती है रौनक,
तो वे समझते हैं बीमार का हाल अच्छा है''।

योग दर्शन के अनुसार मन का स्वरूप सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण में से जिस गुण की विशेष प्रधानता होती है, चित्त की उसी के अनुसार अवस्था हो जाती है। योगदर्शन ने चित्त (अन्तःकरण) की मूढ़ावस्था[1], क्षिप्तावस्था[2], विक्षिप्तावस्था[3], एकाग्रावस्था[4], एवं निरुद्धावस्था[5], इस प्रकार पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है तथा उसका स्पष्टीकरण योग—दर्शन में निम्नलिखित प्रकार से आया है।

(१) **मूढ़ावस्था** इस अवस्था में तम प्रधान होता है, रज तथा सत्त्व दबे हुए गौणरूप से रहते हैं। यह अवस्था काम, क्रोध, लोभ,

मोह के कारण होती है। जब चित्त की ऐसी अवस्था होती है, तब मनुष्य की प्रवृत्ति अज्ञान, अधर्म, राग और अनैश्वर्य में होती है। यह अवस्था निम्न मनुष्यों की है।

(२) **क्षिप्तावस्था** इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। तम और सत्त्व दबे हुए गौणरूप से रहते हैं। इसका कारण राग द्वेषादि होते हैं। इस अवस्था में धर्म–अधर्म, राग–विराग, ज्ञान–अज्ञान, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य में प्रवृत्ति होती है। अर्थात् जब तमोगुण सत्तगुण को दबा लेता है, तब अधर्म, अज्ञानादि में, और जब सत्त्व तम को दबा लेता है तब धर्म, ज्ञानादि में प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था साधारण साँसारिक मनुष्यों की है।

(३) **विक्षिप्तावस्था** इस अवस्था में सत्वगुण प्रधान होता है। रज तथा तम दबे हुये गौणरूप से रहते हैं। यह निष्काम कर्म करने तथा राग–द्वेष, काम–क्रोध, लोभ और मोहादि के छोड़ने से उत्पन्न होती है। इस अवस्था में, क्योंकि सत्त्वगुण किसी मात्रा में बना ही रहता है; इस कारण मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य में होती है, परन्तु रजोगुण चित्त को विक्षिप्त करता रहता है। यह अवस्था उच्च मनुष्यों तथा जिज्ञासुओं की है।

(४) **एकाग्र अवस्था** जब एक ही विषय में सदृश वृत्तियों का प्रभाव चित्त में निरन्तर बहता रहे, तब उसको एकाग्रता कहते हैं। यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था है। अर्थात् जब चित्त में बाह्य विषयों के रज तम का प्रभाव न रहे, तब वह निर्मल चमकते हुए

स्फटिकके सदृश स्वच्छ होता है। उस समय उसमें परमाणुओं से लेकर महत्तत्व पर्यन्त ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ इन विषयों का यथार्थ साक्षात् हो सकता है। इसीकी अन्तिम स्थिति, विवेक ख्याति होती है। एकाग्रता को संप्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। इसमें प्रकृति के सब कार्यों (गुणों) के परिणामों का पूर्णतया साक्षात्कार हो जाता है।

(५) **निरुद्धावस्था** जब विवेक ख्याति द्वारा चित्त और पुरुष के भेद का साक्षात्कार हो जाता है, तब उस विवेक ख्याति से भी वैराग्य (परवैराग्य) का उदय होता है। क्योंकि, विवेक ख्याति भी चित्त की ही एक वृत्ति है। इस वृत्ति के भी निरुद्ध होने प सर्ववृत्तियों के निरोध होने से चित्त की निरुद्धावस्था होती है। इस निरोधावस्था में अन्य सब संस्कारों के तिरोभावपूर्वक परवैराग्य के संस्कार मात्र शेष रहते हैं। निरोधावस्था में किसी प्रकार की भी वृत्ति न रहने के कारण कोई भी पदार्थ जानने में नहीं आता तथा अविद्यादि पाँचों क्लेशों सहित कर्माशयरूप जन्मादिकों के बीज नहीं रहते। इसलिए इसको असंप्रज्ञात तथा निर्बीज समाधि भी कहते हैं।

चित्त नदी चित्त एक नदी है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ हैं–(१) एक संसार सागर की ओर (२) दूसरी कल्याण सागर की ओर बहती है। जिसने पूर्व जन्म में साँसारिक विषयों के भोगार्थ कर्म किये हैं, उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विषय–मार्ग से बहती हुई संसार सागर में जा मिलती है। और जिसने पूर्व जन्म में कैवल्यार्थ साधन किये हैं,

उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक मार्ग में बहती हुई कल्याण सागर में जा मिलती है। साँसारिक लोगों की प्रायः पहली धारा तो जन्म से ही खुली रहती है; किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र, गुरु, आचार्य तथा ईश्वर–चिन्तन खोलते हैं। पहली धारा को बन्द करने के लिए विषयों के श्रोत पर वैराग्य का बन्ध लगाया जाता है, और अभ्यास के बेलचे से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक श्रोत में डाल दिया जाता है। तब प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह कल्याणरुपी सागर में जाकर लीन हो जाता है।

अन्तःकरण का स्थान

सामान्यतया अन्तःकरण मध्यम परिमाण वाला होने से पूरे स्थूल शरीर में व्याप्त हिता नाम की नाड़ियों में रहता है, फिर भी जाग्रतादि अवस्थाओं में इसका विशेष स्थान होता है।

नेत्रे जाग्रणम् नेत्रस्थ हितानाम की नाड़ियों में जब मन स्थित होता है तब जाग्रत अवस्था होती है। बीज रूप से पड़े संस्कार इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् के संयोग से प्रकट होते रहते हैं तथा नवीन संस्कार भी बाहर से आते रहते हैं। इस अवस्था में रजोगुण प्रधान होता है। वैखरी वाचा है (श्रोत्र ग्राह्य स्थूल शब्द रूपा) क्रिया शक्ति द्वारा स्थूल भोगों की प्राप्ति होती है।

कण्ठे स्वप्नः कण्ठस्थ हिता नाम की नाड़ी में जब सत्रह तत्त्वों वाले सूक्ष्म शरीर (मन) की स्थिति होती है तब स्वप्नावस्था होती है।

ये हिता नाम की नाड़ियाँ जिस प्रकार सहस्त्र भागों में विभक्त हुआ केश रहता है, उतने परिमाण में सूक्ष्म (हिता नाम नाड़ियाँ) सारे शरीर में फैली हुई, शुक्ल, नील–पीत, हरित एवं लोहित रस से भरी हुई हैं। ये रसों के वर्ण–विशेष, वात–पित्त और कफ के पारस्परिक संयोग की विशेष विषमता के कारण विभिन्न और अनेक प्रकार के होते हैं। नाड़ीगत रसरूप उपाधि के संसर्ग से धर्माधर्म प्रेरित उद्‌भूत वृत्ति विशेष वाला तथा जाग्रत् संस्कारों से स्त्री, रथ, हाथी आदि आकार वाली विशेष वासनाओं से युक्त भासित होता है। इस अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान है, मध्यमा वाचा (भाव रूपा) है ज्ञान–शक्ति द्वारा प्रविविक्त (सूक्ष्म) भोगों की प्राप्ति होती है।

जाग्रत् में सत्त्व एवं रज का विकल्प शास्त्रों में बहुत जगह जाग्रत् में सत्त्वगुण तथा स्वप्न में रजोगुण कहा है। सो, जहाँ ऐसा कहा गया है, उसका कारण यह है कि जाग्रत अवस्था में विषयों का ज्ञान होता है। अत: अन्त:करण में मोक्ष–इच्छा होने से ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण जाकर श्रवण–मनन करें तो आत्मा का ज्ञान होता है। इससे वहाँ सत्त्वगुण कहा है और यहाँ इसलिए रजोगुण कहा है कि जाग्रत् अवस्था में विशेष रूपसे क्रिया होती है, और यह रजोगुण का कार्य है। इससे जाग्रत अवस्था में रजोगुण कहा गया है।

स्वप्न में सत्त्वगुण स्वप्न में सत्त्वगुण कहने का अभिप्राय यह है कि स्वप्न में केवल विषयों का ज्ञान ही होता है, क्रिया होती

नहीं। इससे सत्त्वगुण कहा है। सत्त्वगुण से ज्ञान होता है।

महामत्स्य दृष्टान्त जिस प्रकार कोई बड़ा भारी मत्स्य नदी के पूर्व और अपर दोनों तीरों पर क्रमशः संचार करता है; उसी प्रकार यह पुरुष (अन्तःकरण एवं तद् विशिष्ट जीव) स्वप्न स्थान और जाग्रत् स्थान इन दोनों ही स्थानों में क्रमशः संचार करता है।

सुप्तिर्हृदम्बुजे– हृदयाकाश में स्थित हिता नाम की नाड़ियों में जब यह स्थित होता है, तब सुषुप्ति होती है।

जीव, आत्मा में ही विश्राम पाता है जिस प्रकार भौतिक–आकाश में श्येन (बाज) अथवा सुपर्ण (तेज उड़ने वाला बाज) बिहार कर सब ओर उड़कर थक जाने पर अर्थात् कई बार उड़ान भरना रूप कर्म से खिन्न होकर, पंखों को फैलाकर (जिसमें सम्यक् प्रकार लीन होता है; उस) अपने घोसले में प्रविष्ट होता है; इसी प्रकार जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में देह, इन्द्रिय के संयोग से होने वाले क्रिया–फलों से संयुक्त जीव को पक्षी के उड़ान से होने वाले श्रम के समान ही श्रम होता है। उस श्रम की निवृत्ति के लिए वह अपने घोंसले–निवासस्थान अर्थात् सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों से विलक्षण तथा सब प्रकार के क्रिया कारक और फल के श्रम से रहित अपने आत्मा में प्रवेश करता है। सुषुप्ति में जीव का आत्मा में प्रवेश करना कहा है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वह मुक्त आत्मा की भाँति स्वरूप स्थित हो जाता है। यह स्थिति तो पूर्ण बोध होने पर ही हो सकती है। सुषुप्त जीव का अव्याकृत–माया

के अंशभूत कारण शरीर से सम्बन्ध बना रहता है। अतः ब्रह्म में कारणशरीर सहित प्रवेश करता है, ऐसा समझना चाहिए।

हृदयस्थित आत्मा में ही यह पुरुष (अन्तःकरण एवं तद् विशिष्ट—जीव) विश्राम पाता है। इसलिए उस आत्मा को इस (जीव) का अपना घोंसला कहा गया है। इस अवस्था में तमोगुण प्रधान होता है, पश्यन्तिवाचा (ब्रह्म से अभिन्न शक्तिरूपा) है। तम—शक्ति द्वारा आनन्दभोग की प्राप्ति होती है।

सप्तदशकं लिङ्गम् उपर्युक्त (पंच प्राण, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि) सत्रह तत्त्वों के समुदाय सूक्ष्मशरीर को लिङ्ग कहते हैं। लिङ्ग शब्द का अर्थ है—''लीनमर्थं गमयति इति लिङ्गम्'' अर्थात् जो अप्रकट पदार्थ को प्रकट करके दिखावे, उसको लिङ्ग कहते हैं। इसके द्वारा उसी प्रकार अव्यक्त (अप्रकट) आत्मा चिदाभास के रूप में प्रकट होता है; जिस प्रकार दर्पणादि में मुख प्रकट होता है। और अन्ततोगत्वा ज्ञान का साधन भी यही है। इसीलिए इसको लिङ्ग कहते हैं।

पुर्यष्टक पुर्यष्टक के रूप में भी लिङ्ग—शरीर की व्याख्या की गई है। पुर्यष्टक अर्थात् (१) ज्ञानेन्द्रिय पंचक (२) कर्मेन्द्रिय पंचक (३) प्राणादि पंचक (४) अन्तःकरण चतुष्टय (५) सूक्ष्म पंचमहाभूत (६) अविद्या (७) काम (वासना) (८) और कर्म ये पुर्यष्टक कहे जाते हैं।

भौतिकम् भौतिकम् का अर्थ है आकाशादि भूतों का कार्य,

जैसाकि पहले कह आये हैं। उसके अनुसार यह सूक्ष्मशरीर पंचभूतों का कार्य है, इसलिए इसे भौतिक कहते हैं। भौतिक अर्थात् पंचभूतों का कार्य कहने का तात्पर्य यह है कि यह भूतों का कार्य होने से पंचभूतों की तरह जड़ एवं परिवर्तनशील है।

क्षणपरिणामिन: सर्वेभावा: यावन्मात्र मायिक प्राकृतिक पदार्थ, अर्थात् सम्पूर्ण भूत–भौतिक सृष्टि क्षण परिणामी है। एक असंग–चेतन आत्मतत्त्व को छोड़कर अन्य सभी पदार्थों में नियम से निरन्तर परिणाम होते रहते हैं। कहीं पर यह परिणाम व्यक्त (प्रकट) रूप में दिखाई देता है एवं कहीं पर परिणाम अव्यक्त सा रहता है। जैसेकि लकड़ी का अग्नि द्वारा जब राख–रूप प्ररिणाम होता है, तो प्रत्यक्षरूप में देखा जाता है कि लकड़ी राख–रूप हो गई है। किन्तु वही लकड़ी यदि ज्यों की त्यों पड़ी रहे तो मालूम पड़ता है कि इसमें कोई परिवर्तन नही हो रहा है किन्तु वह लकड़ी कुछ वर्षो के बाद विकृत–रूप में दिखाई देती है। वह विकार सहसा एक दिन में नहीं हुआ; परन्तु प्रति क्षण परिणाम होते–होते वैसी अवस्था पर आया। इसी प्रकार बच्चा पैदा होता है तो उसके प्रत्येक अवयव में प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है, किन्तु वह देखने में नहीं आता। यदि उसी पाँच साल के बच्चे को पन्द्रह साल के बाद देखते हैं तो इस हद तक उसमें परिवर्तन दिखाई देता है कि उसको पहचानना तक मुश्किल हो जाता है। इसी प्रकार परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त सभी पदार्थ निरन्तर परिवर्तन को प्राप्त हो रहे हैं। यह परिवर्तन जड़ पदार्थों का स्वाभाविक धर्म है।

क्षण–प्रध्वंसी जिस प्रकार भौतिक जड़ तत्त्वों को क्षण परिणामी बतलाया है; इसी प्रकार दूसरे शब्दों में इन्हें क्षण प्रध्वंसी भी कहते हैं। क्षण प्रध्वंसी का अर्थ यह है कि जो भी दृश्य जड़ पदार्थ है, वह क्षण–क्षण में नाश को प्राप्त हो रहा है। यद्यपि प्रति क्षण में उसका नाश देखने में नहीं आता। जैसे–हम कहते हैं कि उसी गंगा में स्नान किया; वही दीपक जल रहा है। किन्तु विचार से देखा जाय तो यह सारा ही कथन गलत है। क्योंकि जिस गंगा के जल में प्रथम स्नान किया था, वह जल बहकर आगे चला गया। दूसरी बार जब हम स्नान करने गये, तो हमारे सामने दूसरा ही जल था, किन्तु समान जातीय होने से कह देते हैं कि उसी गंगा में स्नान किया। इसी प्रकार जो दीपक की लौ दिखती है, वह क्षण–क्षण में नष्ट हो जाती है एवं बत्ती द्वारा तेल दूसरी लौ के रूप में आकर प्रकाशित होता है। इस प्रकार प्रति क्षण में 'लौ' का विनाश होता रहता है। परन्तु समानजातीय 'लौ' की उत्पत्ति होते रहने से हम कहते हैं कि वही 'लौ' जल रही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भले ही हमको प्रत्येक पदार्थ के प्रतिक्षण प्रध्वंस का प्रत्यक्ष अनुभव न हो, फिर भी सभी पदार्थ प्रतिक्षण प्रध्वंसी ही हैं।

गहराई से– इस बात को गहराई से देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय इस स्वाभाविक, सतत् नियमित परिवर्तन का ही फल है।

अनुलोम एवं विलोम परिणाम सामान्यरूप से इस परिवर्तन अथवा परिणाम को दो भागों में विभक्त किया जाता है—(१) अनुलोम परिणाम (२) विलोम परिणाम। अव्याकृत (ईश्वर) से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी, एवं पृथ्वी आदि सूक्ष्ममहाभूतों से (पंचीकृत होकर) स्थूल पृथ्वी आदि तथा स्थूल पृथ्वी के परिणामस्वरूप उद्भिज्ज आदि चौरासी लाख एक योनियों एवं महल, मकान लोकलोकान्तर आदि सम्पूर्ण चराचरात्मक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है। इसका नाम अनुलोम परिणाम है। दूसरा विलोम परिणाम ठीक इसके विपरीत क्रम से होता है, अर्थात् प्रथम जब सम्पूर्ण चराचर, प्राणियों के स्थूल शरीर नष्ट होकर पंचमहाभूत मात्र रह जाते है; तब पृथ्वी जलरूप में परिणत हो जाती है; अर्थात् जल में विलीन हो जाती है। इसी प्रकार जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश अव्याकृत माया में विलीन हो जाता है। अनुलोम परिणाम द्वारा पुनः अव्याकृत से आकाशादि क्रम से परिणाम को प्राप्त होकर चराचरात्मक जगत् की स्थिति और विलोम परिणाम के द्वारा पुनः प्रलय, इस प्रकार यह क्रम चलता ही रहता है।

ब्रह्मा का दिन और रात्रि शास्त्रों में इस द्विविध परिवर्तन को ब्रह्मा का दिन—रात्रि के रूप में वर्णन किया है। ब्रह्मा का जो एक दिन है उसको हजार चौकड़ी युग (हजार बार सतयुग, त्रेता, द्वापर एवं कलयुग) अवधि वाला तथा रात्रि को भी हजार चौकड़ी

युग तक अवधि वाली बताते हैं। सम्पूर्ण दृश्य मात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं। और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्मशरीर में लीन होते हैं और वह भूत समुदाय उत्पन्न हो–होकर प्रकृति के वश में हुआ रात्रि के प्रवेशकाल में फिर विलीन हो जाता है।

सृष्ट्यादि प्रवाह अनादि अनन्त है उक्त प्रकार से ब्रह्मा के अपने सौ वर्ष पूर्ण हो जाने पर ब्रह्मा अपने लोक सहित समाप्त हो जाता है। तदनन्तर सतत् परिवर्तन के फलस्वरूप ही पुनः ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति एवं प्रलय का प्रवाह अनादि, अनन्त चलता रहता है। इसमें होने वाले परिवर्तन अथवा परिणाम भी प्रवाहरूप से अनादि, अनन्त होते रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि क्षणमात्र के लिये भी यह परिवर्तन रुकता नहीं। अतः इसी अनवरत नियमित परिवर्तन के कारण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय सदा ही होते रहते हैं। इसी बात को लक्ष्य में रखकर शैव ग्रन्थों में पौराणिक भाषा में कहा है–

''सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः''॥

अर्थात् सदा सृष्टि–रूप से विनोद करने वाले और जगत् की स्थिति रूप से सदा सुखमय स्थित रहने वाले एवं जगत् के प्रलयरूपी, त्रिभुवनों के आहार से तृप्त रहने वाले स्वामी को नमस्कार है।

इसका निष्कर्ष यह है कि मायामय सम्पूर्ण जगत् स्वरूप से अनादि एवं अनन्त है। अर्थात् इसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि यह संसार प्रवाह अमुक समय से आरम्भ हुआ और अमुक समय समाप्त हो जायेगा। यद्यपि यह द्वैत प्रपंच भ्रमरूप होने के कारण दु:ख का हेतु है, तथापि बिना ज्ञान के इसकी निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती। अर्थात् जब तक अधिष्ठान परमात्मा के बोध का उदय नहीं होता, तब तक अज्ञान दशा में यह संसारप्रवाह अनादि एवं अनन्त बना ही (भासता ही) रहता है।

बिना बोध के संसार का अन्त नही इस बात का भाष्यकार भगवान् आद्यशंकराचार्य जी ने एवं पञ्चपादिकाकार ने स्पष्ट संकेत किया है–

''अनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यास:...अस्यानर्थ हेतों:, प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते''

(अध्यासभाष्य)

''अनन्तस्य प्रहाणाय वेदान्ता आरभ्यंते इत्युक्ते: अथदिष एव प्रहाणहेतु:असत्यस्मिन् अनन्त इति निश्चीयते''।

(पंचपादिका)

अर्थात् 'यह स्वाभाविक (जगत् का) अध्यास अनादि और अनन्त है। सम्पूर्ण अनथों की जड़ उक्त जगत् के अध्यास की निवृत्ति के लिए वेदान्तशास्त्र का आरम्भ है'। (अध्यास भाष्य)

'अनन्त (जगत्) अध्यास की निवृत्ति के लिए वेदान्त–शास्त्र है। यह कहने का तात्पर्य यह है कि यदि वेदान्त–विज्ञान (ब्रह्मविद्या)

की प्राप्ति न हो तो यह निश्चित है कि संसार का कोई अन्त नहीं है'। (पंचपादिका)

जीवभाव का भी बिना बोध के अन्त नहीं जैसा ऊपर बतला चुके हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् का प्रवाह अनादि एवं अनन्त है। ब्रह्माण्ड सहित अनन्त ब्रह्माओं का प्रलय हो जाय फिर भी यह सृष्टि पुनः तद्वद् उत्पन्न होती है एवं पूर्ववत् ही इसकी स्थिति एवं प्रलय का क्रम चलता रहता है। इसी प्रकार से भौतिक लिङ्ग, अर्थात् सूक्ष्मशरीर उपाधिवाला जीव अनन्त वासनाओं से युक्त हुआ, अपने कर्मानुसार अनेकों योनियाँ प्राप्त करता रहता है। वह जिस योनि को प्राप्त करता है, उस योनि में भी अन्य अनगिनत वासनाएँ उसमें संगृहीत होती रहती हैं। इस प्रकार अनगिनत ब्रह्माओं के प्रवाहरूप से लय को प्राप्त होने पर भी इस आवागमन के चक्र में पड़ा हुआ जीव, दुःख रूपी संसार सागर में गोते खाता रहता है। अर्थात् इस दुःखमय संसार का अन्त नहीं पाता। तात्पर्य यह है कि इस अनादि, अनन्त संसारचक्र से जीव की बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म का आत्मरूप से ज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध की स्थिति पर्यन्त जीवनमुक्त रहता है एवं प्रारब्ध के क्षीण होते ही वह विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है।

सूक्ष्म समष्टि हिरण्यगर्भ है उक्त सूक्ष्म समष्टि को हिरण्यगर्भ कहते हैं। हिरण्यगर्भ की विशेष व्याख्या पहले ४१ पृष्ठ पर कर चुके हैं। हिरण्यगर्भ आत्मा की उपाधि है।

''एतत्सूक्ष्मशरीरमात्मनः''

यह जो हिरण्यगर्भ है, यह आत्मा का सूक्ष्मशरीर है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे विराट् को आत्मा का स्थूल शरीर बतलाया था, विराट् ही आत्मा नहीं है, आत्मा का स्थूलशरीर है। इसी प्रकार यह हिरण्यगर्भ भी आत्मा नहीं, आत्मा का सूक्ष्म शरीर रूप उपाधि ही है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार चित्र में बनाया वस्त्र, चित्र का आधार नहीं होता; सच्चा वस्त्र ही आधार होता है जिस पर चित्र वस्त्र सहित सम्पूर्ण चित्र चित्रित है। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ भी जगत् रूपी चित्र की कोटि का होने से जगत् का अधिष्ठान आत्मा नहीं हो सकता है।

हिरण्यगर्भ उपाधि विशिष्ट अर्थ में भी यद्यपि हिरण्यगर्भ शब्द समष्टि सूक्ष्म उपाधि वाले आत्मा को ही कहते हैं, तथापि यहाँ पर केवल समष्टि सूक्ष्म उपाधि के अर्थ में हिरण्यगर्भ शब्द का प्रयोग हुआ है।

स्वप्न अवस्था ''कारणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्न इत्युच्यते''

'इन्द्रियों के निष्क्रिय हो जाने पर जाग्रत अवस्था के संस्कारों से उत्पन्न हुए (वासनामय) विषय सहित ज्ञान को—स्वप्न अवस्था कहते हैं'।

''पूर्वप्रसङ्ग'' हितानामकी नाड़ियाँ यह पहले बतला

चुके हैं कि हितानाम की नाड़ियाँ सहस्र भागों में विभक्त बालाग्र की तरह सूक्ष्म हैं एवं नील, पीत, हरित तथा लोहित आदि रसों से भरी हुई हैं। ये रस, बात, पित्त और कफ के पारस्परिक संयोग की विविध विषमता के कारण विभिन्न और बहुत प्रकार के होते हैं। ये हितानाम की नाड़ियाँ स्फटिकवत् स्वच्छ हैं, परन्तु जिन रंगों के रसों से पूर्ण हैं उन्हीं रसों वाली कही जाती हैं। ये सूक्ष्म नाड़ियाँ सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई हैं। इनमें सत्रह तत्वों वाला लिङ्ग शरीर रहता है। सामान्यतया तो लिङ्गशरीर इनमें रहता हुआ सारे शरीर में फैला हुआ है। परन्तु विशेषरूप से जब नेत्रस्थ हितानाम की नाड़ियों मे प्रविष्ट होता है, तब जाग्रत् अवस्था होती है।

स्वप्न अवस्था का पूर्व प्रसंग पहले उक्त जाग्रत अवस्था के वर्णन में जैसा बताया है कि देवताओं के अनुग्रह को प्राप्त हुये बाह्यकरण एवं अन्तःकरण से अपने–अपने विषयों का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे जाग्रत अवस्था कहते हैं। अर्थात् बाह्यकरणरूपी गोलकों में रहकर इन्द्रियाँ अपने–अपने कार्य में संलग्न रहती हैं। इस अवस्था में जिस इन्द्रिय के साथ मन होता है, उसी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है तथा चित्त पर उन्हीं विषयों के संस्कार पड़ते हैं, तथा वे संस्कार संगृहीत होते रहते हैं। इस प्रकार स्थूल जगत् से नवीन संस्कार संगृहीत होते हैं एवं पूर्व संस्कार भी प्रकट होते रहते हैं और चित्त उन्हीं (संस्कारों) का चिन्तन करता रहता है।

जब संगृहित संस्कारों सहित सत्रह तत्त्वों वाला सूक्ष्मशरीर

कण्ठस्थ हितानामक नाड़ियों में विशेषरूप से प्रविष्ट होता है, तब जाग्रत् के अनुरूप ही इसे यहाँ स्वप्न आता है। इस अवस्था में इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ बाह्यविषयों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं रहती। वहाँ पर विषय एवं विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों एवं वृत्तियों के रूप में वासनाएँ ही प्रकट होती हैं।

स्वप्न में इन्द्रियों का काम हितानाम की नाड़ियाँ करती हैं जैसे जाग्रत् में स्थूल जगत् एवं इन्द्रियाँ आदि संस्कारों के प्रकट करने में सहायक होती हैं, ठीक उसी प्रकार से इस स्वप्न अवस्था में हितानाम की नाड़ियों में जो रस प्रवाहित हो रहे हैं, वही इसके संस्कारों को उद्भूत (प्रकट) करते हैं। वासनाओं अर्थात् संस्कारों का आश्रयभूत लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) अपञ्चीकृत (सूक्ष्म) पञ्चमहाभूतों के सत्त्वगुण का कार्य होने से स्वच्छ स्फटिकमणि के समान है। यह सूक्ष्मशरीर (मन) नाड़ीगत रस रूप उपाधि के संसर्ग से धर्माधर्म प्रेरित उद्भूत वृत्तिवाला एवं स्त्री, रथ, हाथी आदि आकार वाली विशेष वासनाओं से युक्त होकर भासित होता है।

मन का यथार्थ स्वरूप स्वप्न में स्वप्न में ही सूक्ष्मशरीर (मन) की वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। जाग्रतकाल में यद्यपि इसकी स्थिति का पता तो चलता है, परन्तु जाग्रत् अवस्था में बुद्धि की प्रधानता होने से मनुष्य आन्तरिक भावों को दबा लेता है, अथवा यों भी कह सकते हैं कि लोक–लज्जा आदि

द्वारा उस पर पर्दा सा पड़ा रहता है। यहाँ तक कि कोई–कोई व्यक्ति तो चेहरे पर भी उस भाव को आने नहीं देते। परन्तु स्वप्नावस्था में अन्तःकरण की स्थिति का यथार्थ ज्ञान होता है।

अविद्याग्रस्त का स्वप्न

वृहदारण्यकोपनिषद् का प्रसंग–अविद्या जिस पर छाई है, उसको रथादि, स्त्री, या हाथी खदेड़ रहा है, अथवा जिस समय वासनाओं के कारण कोई शत्रु या चोर आकर उसे मारते हैं, अविद्या संज्ञक वृथा ही प्रतीत होता है। न उस समय कोई मारते हैं, न वश मे करते हैं। अविद्या जनित वासना के उद्भव (प्रकट) के कारण भ्रान्ति मात्र हो जाती है। इसी प्रकार हाथी के समान कोई उसका पीछा करता है तथा यह अपने को पुराने गर्त, कूप आदि में गिरता देखता है इस प्रकार मिथ्या वासना पैदा हो जाती है, जो दुःखरूपा होने के कारण अत्यन्त अविद्यामयी और अन्तःकरण की अधर्मोचित वृत्ति के आश्रय रहती है। यह स्थिति अविद्या वासनामय है, अर्थात अविद्या से उसमें भेद बुद्धि दृढ़ हो रही है, या यों कहें कि अविद्या का प्राबल्य है।

विद्या का उत्कर्ष होने पर (वृ०)

जब अविद्या का अपकर्ष और विद्या का उत्कर्ष होने लगता है, तब जैसे जाग्रत्काल में जब देवता विषयिणी विद्या का उद्भव होता है, तब उस उद्भूत हुई वासना से वह अपने को देवता तुल्य मानता है तथा राजा के समान मानता है। जैसे जाग्रत अवस्था में अभिषेक पूर्वक राज्य पर अवस्थित हुआ पुरुष उस राज्य वासना से

युक्त होने के कारण स्वप्न में भी मैं राजा हूँ, ऐसा मानता है।

सर्वात्मभावरूपी विद्या के प्रादुर्भाव से (वृ०) इसी प्रकार जब अविद्या अत्यन्त क्षीण हो जाती है और सर्वात्म विषयिणी विद्या का उद्भव हो जाता है, उस समय उस भाव से भावित रहने के कारण वह स्वप्न में भी, 'मैं ही यह सब हूँ'। ऐसा मानता है। यह जो सर्वात्मभाव है, वह इस आत्मा का परमलोक, स्वाभाविक परम आत्मभाव है; अर्थात् स्वरूप है।

परमलोक और अपरमलोक (वृ०) जो सर्वात्मभाव से उतरकर अपने को बालाग्र भाग भी मैं यह नहीं हूँ, इस प्रकार अन्य रूप से देखता है उसकी वह अवस्था अविद्या है। उस अविद्या द्वारा प्रस्तुत किये गये जो अनात्मभाव हैं, वे स्थावर पर्यन्त लोक अपरम लोक हैं, उन व्यवहार विषयक लोकों की अपेक्षा यह सर्वात्मभाव पूर्ण तथा अन्तर–बाह्य शून्य, वह उसका परमलोक है। अतः अविद्या का अपकर्ष और विद्या की पराकाष्ठा होने पर सर्वात्मभाव की प्राप्ति ही मोक्ष है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आत्मा का स्वयं प्रकाशरूप से प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार विद्या के फल मोक्ष की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। इस प्रकार स्वप्नावस्था विद्यामयी एवं अविद्यामयी स्थिति को यथार्थ रूप से प्रकट करती है।

तैजस

"तदुभयाभिमान्यात्मा तैजसः" उक्त सूक्ष्मशरीर एवं स्वप्नावस्था का अभिमानी आत्मा तैजस कहलाता है। सर्वात्मभाव को प्राप्त होकर

अभिमानी आत्मा तैजस कहलाता है। सर्वात्मभाव को प्राप्त होकर अर्थात् पूर्णतया विद्या के प्राकट्य द्वारा जब तक समस्त भेद भ्रम की निवृत्ति कर मोक्ष प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक सामान्य मनुष्य की स्थिति में रहता हुआ, उक्त स्वप्नावस्था एवं व्यष्टि सूक्ष्म शरीर में अभिमान करके तैजस कहलाता है।

तैजस और हिरण्यगर्भ की एकता इस तैजस की सूक्ष्म समष्टि अभिमानी हिरण्यगर्भ से तत्त्वत: एकता है, इसी बात का संकेत करने के लिए सूक्ष्म समष्टि रूप हिरण्यगर्भ को आत्म का सूक्ष्मशरीर कहा गया है। क्योंकि समष्टि सूक्ष्म एवं व्यष्टि सूक्ष्म दोनों एक ही माया के कार्य एवं वासनामय होने से दोनों की उपाधि एक है और जैसा पूर्वोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि उपाधि वाले चेतन में तो भेद होता ही नहीं। उपाधि के कारण ही उसमें भेद भासता है। जब तत्त्वत: तैजस एवं हिरण्यगर्भ की उपाधि एक है, तब हिरण्यगर्भ और तैजस की एकता स्वत: सिद्ध हो जाती है। जैसे कि पहले विराट् एवं विश्व की एकता का कथन कर आये हैं। तात्पर्य यह है कि हिरण्यगर्भ और तैजस का भेद केवल भ्रममात्र है। इस भ्रम की निवृत्ति करने के लिये हिरण्यगर्भ और तैजस की एकता का चिन्तन करना चाहिए। इसी बात को सूचित करने के लिए तैजस के प्रंसग में सूक्ष्म समष्टि हिरण्यगर्भ को आत्मा का सूक्ष्म शरीर कहा गया है।

उकार–मात्रा का उपसंहार

''एतत् त्रयम् उकारः'' यह सूक्ष्म शरीर, स्वप्नावस्था और इन दोनों का अभिमानी ये तीनों ॐकार की द्वितीय मात्रा 'उ'कार है, अर्थात् इन तीनों को लेकर 'द्वैत' शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ये तीनों 'उ'कार कें अन्तर्गत हैं अर्थात् ॐकार की एक 'उ'कार मात्रा रूप है।

जो स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर दोनों का कारण शरीर है एवं जिस अज्ञान के निवृत्त होने पर प्रारब्ध क्षय होने से स्थूल के साथ सूक्ष्म भी नष्ट हो जाता है, उसको कारण शरीर (अव्याकृत) कहते हैं, उसका वर्णन आगे 'म'कार मात्रा में करेंगे।

।। 'उकार' की व्याख्या पूर्ण हुई।।

जगत् के दो भेद

ब्रह्म का जगत् विवर्त है अर्थात् ब्रह्म में अध्यस्त है, उसी प्रकार, जिस तरह रस्सी में सर्प अध्यस्त होता है।

अध्यस्त जगत् के दो भेद होते हैं :–

(१) कारणरूप (२) कार्यरूप।

कारणरूप जगत् के दो भेद होते हैं :–

(१) निमित्त कारण (२) उपादान कारण।

निमित्त कारण उसको कहते हैं जो उपादान से अतिरिक्त होते हुए कार्य के उत्पन्न होने में हेतु होता है। जिस प्रकार सोने के बने हुए कंगन में उपादान सोना है, किन्तु उसका कंगन बनने में, जो सुनार और औजार आदि साधन हैं, वे निमित्त कारण कहे जाते हैं।

उपादान कारण के तीन भेद माने जाते हैं :–

(१) आरम्भी; (२) परिणामी (३) विवर्ती।

इस बात को लेकर तीन वाद प्रसिद्ध हैं :–

(१) आरम्भवाद (२) परिणामवाद (३) विवर्तवाद

प्रथम जो नैयायिक आदि का आरम्भवाद है, वह ब्रह्म विचार के प्रसंग में नगण्य है। अतः मुख्य भेद उपादान कारण के दो ही होते हैं :–

(१) परिणामी उपादान कारण (२) विवर्ति उपादान कारण।

परिणामी उपादान कारण का मतलब यह है कि परिणाम को

प्राप्त करके कार्य का स्वरूप धारण करता है। जिस प्रकार से दूध परिणामी उपादान कारण है एवं दही उसका परिणामरूप कार्य है। अत: यह स्पष्ट है कि दूध ही परिणाम को प्राप्त कर दही का स्वरूप धारण कर लेता है।

विवर्तिकारण का अर्थ है कि विविर्तिकारण अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों अविकृतरूप से रहते हुए भी कार्यरूप में भासता है। जैसे—ऊपर कह आये हैं कि रस्सी में सर्प अध्यस्त है, अर्थात् रस्सी का सर्प विवर्त है। यहाँ हम देखते हैं कि रस्सी ज्यों की त्यों अपने स्वरूप में अविकृत रहती हुई भी सर्प के रूप में भासती है।

इसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् का विवर्ति उपादान कारण है; ग्र्थात् ब्रह्म अपने तात्त्विक स्वरूप में ज्यों का त्यों रहता हुआ, जगत् के रूप में भासता है। जगत् का परिणामी उपादान कारण है माया, अर्थात् जो भी जगत् का आकार—प्रकार देखने में आता है, वह सब माया का ही परिणाम है। व्यष्टि—समष्टि रूप सम्पूर्ण जीवों के कर्म निमित्त कारण होते हैं। जीवों के कर्मरूपी निमित्त से ही ऊँच—नीच, अच्छा—बुरा, सुखी—दुखी, कुरूप—सुरूपादि विषम एवं विचित्र जगत् की उत्पत्ति होती है।

कार्य कारणात्मक जगत् ब्रह्म का विवर्त है

विशेष बात ध्यान रखने की यह है कि विवर्तिकारण जो ब्रह्म है, उसका विवर्त, कार्यजगत् के सहित मायारूपी उपादान कारण तथा जीवों के कर्मरूपी निमित्त कारण भी हैं। अर्थात् उस ब्रह्म में

जीवों के कर्मरूपी निमित्त कारण भी हैं। अर्थात् उस ब्रह्म में अध्यस्त ही हैं। जैसे– पञ्चभूत के कार्य, ये मनुष्यादि के शरीर या वृक्षादि जिस प्रकार से पञ्चभूत में ही अध्यस्त हैं; अर्थात् बीज की भी पञ्चभूत से भिन्न सत्ता नहीं है। अत: पञ्चभूतवत् माया और कर्म भी ब्रह्म में अध्यस्त ही हैं।

ब्रह्म जगत् से परे है इस प्रसंग में विशेष वक्तव्य यह है कि उपादान कारण के जो मुख्य दो भेद बतलाये गये हैं:–

(१) परिणामी उपादान कारण (२) विवर्ति उपादान कारण–उसमें परिणामी उपादान कारण जो माया (अज्ञान) है। वही कारण रूप जगत है। विवर्ती उपॉदन कारण जो ब्रह्म है वह जगत् के अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि कार्य–कारणात्मक सम्पूर्ण जगत् का वह (ब्रह्म) अधिष्ठान है एवं जगत् उसमें अध्यस्त है, और जो अधिष्ठान है, वह अध्यस्त में अन्तर्भूत नहीं हो सकता है। जैसे–रस्सी अध्यस्त सर्प, दण्ड आदि में अन्तर्भूत नहीं हो सकती।

इस प्रकार से कारणरूप जगत् का ऊपर वर्णन हो चुका है। कार्यरूप जगत् की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से है :–

कार्यरूप जगत् के दो भेद होते हैं:– (१) स्थूल (२) सूक्ष्म; जिनका वर्णन पहले 'अकार मात्रा' एवं 'उकार मात्रा' में कर चुके हैं। अब उक्त दोनों स्थूल एवं सूक्ष्म कार्यरूप जगत् का कारण, अव्याकृत (अज्ञान) का वर्णन किया जाता है। क्योंकि इन दोनों 'अकार' एवं 'उकार' की भी पृथक–पृथक सत्ता मान लेने पर 'द्वैत' की प्राप्ति होती है। इसलिए कहते हैं कि–

''शरीरद्वयकारणमात्माऽज्ञानं साभासमव्याकृतमित्युच्यते''

अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों शरीरों का कारण आत्मा का अज्ञान है। आभास के सहित उसको अव्याकृत कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि स्थूल एवं सूक्ष्म का कारण भी एक ही साभास अव्याकृत है; साभास अर्थात् चिदाभास से व्याप्त (चैतन्याधिष्ठित) ही अव्याकृत स्थूल—सूक्ष्म जगत् का कारण होता है।

इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित प्रकार से है:—

दोनों शरीरों (स्थूल एवं सूक्ष्म जगत्) का कारण आत्मा का अज्ञान है। अर्थात् इन दोनों शरीरों की सत्यरूप से प्रतीति तब तक है, जब तक कि आत्मा का अज्ञान है यही इन दो शरीरों का कारण हैं; अर्थात् जब तक ब्रह्माकार वृत्ति नहीं होती, तब तक चिदाभास को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण स्थूल—सूक्ष्म विषयाकार वृत्ति को भ्रम से अपना स्वरूप जानता है। त्रिगुणात्मिका माया या अज्ञान में ऐसे अनन्त संस्कार एवं चिदाभास से युक्त अनन्त अन्तःकरण बीजरूप से विद्यमान रहते हैं; अर्थात् अव्यक्त—अप्रकट रहते हैं, इसलिये उक्त अज्ञान को अव्याकृत कहते हैं। अव्याकृत (कारण अवस्था) इसको इसलिए भी कहते हैं क्योंकि स्थूल एवं सूक्ष्म जगत्रूपी भ्रान्ति का कारण भी यही है। इसीलिए इसको अज्ञान या अविद्या भी कहते हैं।

विशेष ज्ञातव्य यह है कि अव्याकृत शब्द यहाँ पर प्रधानरूप से समष्टि कारणोपाधि के रूप में वर्णित है। किन्तु जिस प्रकार विराट् एवं हिरण्यगर्भ शब्द क्रमशः समष्टि स्थूल एवं समष्टि सूक्ष्म

उपाधि के लिए एवं उपाधि वाले के लिए प्रयुक्त होते हैं, इसी प्रकार अव्याकृत शब्द भी कारणोपाधि एवं कारणोपाधियुक्त ईश्वर के लिए भी प्रयुक्त होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि जब समष्टिकारणोपाधि के अर्थ में अव्याकृत शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब चिदाभास उसका विशेषण होता है और अव्याकृत विशेष्य होता है और जब ईश्वर के अर्थ में अव्याकृत शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब अव्याकृत विशेषण एवं चिदाभास विशेष्य होता है। क्योंकि, अधिष्ठान–शुद्ध स्वरूप ब्रह्म में कारणोपाधि को लेकर ही जगत् का कारणरूप ईश्वरत्व है वह भी अध्यस्त है। अब ईश्वर की उपाधि माया जिसे ऊपर अव्याकृत शब्द से कह आये हैं, उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं :–

''एतत् कारणशरीरमात्मनः।''

अर्थात् जो कारणरूपी उपाधि–अव्याकृत है वह आत्मा का कारण शरीर है। कारण शरीर कहने का तात्पर्य यह है कि इस अव्याकृत को ही आत्मा या परब्रह्म नहीं समझना चाहिए। क्योंकि आत्मा अधिष्ठान शुद्ध चेतन स्वरूप है और अव्याकृत विकारी एवं जड़ है। आत्मा स्वयं प्रकाश एवं परमानन्द स्वरूप है और अव्याकृत आत्मा की ही सत्ता से सत्तावान एवं दुःखमय जगत् का हेतु है। आत्मा सत्य है, अव्याकृत मिथ्या है।

अविद्या का स्वरूप ''तच्च न सत्, नासत्, नापिसदसत्, न भिन्नं, नाभिन्नं, नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित्, न निरवयवं न सावयवं नोभयम्''।

अविद्या सत् नहीं है सुषुप्ति, निद्रा, माया, अज्ञान, अविद्या, शक्ति, तम, प्रकृति, प्रलय, तिमिर, तामिश्र, तमिश्रा, अंधतामिश्र, जड़िमा, मोह, जगत्प्रकृति, अच्युतशक्ति, आंध्य, अनृत, गुणैक्य इत्यादि शब्दों के द्वारा कथन किये जाने वाला अव्याकृत (अज्ञान) सत् नहीं है; क्योंकि यदि सत् होता तो शास्त्र में ब्रह्म के लिये 'एकमेवाद्वितीयं' शब्द का प्रयोग नहीं होता। स्वगत[1]-सजातीय एवं विजातीय तीनों प्रकार के भेदों का निषेध करने के लिए ही ब्रह्म का विशेषण एकमेवाद्वितीयं शास्त्र ने कहा है। इसलिए ब्रह्म के सिवाय अव्याकृत (अज्ञान) की सत्ता नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि सत् होता तो ज्ञान से इसकी निवृत्ति नहीं होती— जैसे कि रस्सी में कल्पित सर्प यदि सत्य होता, तो रस्सी के ज्ञान से उसकी निवृत्ति नहीं होती; इसलिए यह सत् नहीं है।

अविद्या असत् नहीं है अब प्रश्न यह होता है कि यह सत् नहीं है तो क्या आकाश कुसुम या शशश्रृंग को तरह अत्यन्त असत् है? इसका उत्तर यह है कि वह अव्याकृत (अज्ञान) असत् भी नहीं है; क्योंकि अत्यन्त असत् की तो प्रतीति ही नहीं होती। इसकी (अज्ञान की) तो प्रत्यक्ष प्रतीति होती है कि मैं अज्ञानी हूँ।

दूसरी बात यह है कि इस अव्याकृत (अज्ञान) का कार्य स्थूल—सूक्ष्म जगत देखने में आता है। इसलिए इसको अत्यन्त असत् नहीं कह सकते हैं। इसका विशेष स्वरूप जो दो प्रकार का आवरण होता है, उसकी भी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।

टिप्पणी १. **स्वगतभेद:**– एक के अवयवों के भेद को स्वगत भेद कहते हैं; जैसे–एक शरीर में हाथ–पैर आदि अवयव भिन्न–भिन्न हैं।

सजातीयभेद–एक ही मनुष्य का जो दूसरे मनुष्य से भेद है, उसको सजातीय भेद कहते हैं।

विजातीयभेद–मनुष्य से पशु–पक्षी आदि के भेद को विजातीय भेद कहते हैं।

द्विविध आवरण उस आवरण को (१) असत्त्वापादक आवरण (२) अभानापादक आवरण कहते हैं। जैसे–कोई पूँछे कि तुम आत्मा को जानते हो, और वह इसके उत्तर में कहे कि आत्मा है कहाँ जो आत्मा को जानूँ–अर्थात् आत्मा है ही नहीं, इस अज्ञान को असत्वापादक आवरण कहते हैं और आत्मा दिखती नहीं इसको अभानापादक आवरण कहते हैं।

रज्जु सर्प का दृष्टान्त जिस प्रकार से तूला (कार्य) अविद्या का कार्य रज्जू में अध्यस्त सर्प सत् नहीं है और असत् भी नहीं है। सत् इसलिए नहीं है; क्योंकि जब रस्सी के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब सर्प की निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् सर्प मिथ्या साबित हो जाता है, इसलिए वह सत् नहीं है। असत् भी उसको नहीं कह सकते; क्योंकि जो अत्यन्त असत् (शशशृंग आदि) होता है, उसकी प्रतीति भी नहीं होती। रस्सी में सर्प की प्रतीति होने से

ही मनुष्य को भयादि होते हैं। इसलिए उसको अत्यन्त असत् भी नहीं कह सकते।

अविद्या सत्–असत् उभयरूप भी नहीं है यदि यह कहें कि उस (अव्याकृत, अज्ञान) को सत्–असत् उभयरूप मान लिया जाय, तो क्या हर्ज है ! उसके लिये कहते हैं कि वह सत्–असत् परस्पर विरोधी होने से उभयरूप नहीं हो सकता। अर्थात् एक ही वस्तु एक ही काल में सत् और असत् उभयरूप नहीं हो सकती। जैसे– सर्प का एक ही काल में सत्–असत् उभयरूप से ज्ञान नहीं हो सकता। रस्सी में सर्प या सत्रूप से ज्ञात होगा अथवा असत्रूप से ज्ञात होगा।

अविद्या भिन्न–अभिन्न एवं भिन्नाभिन्न उभयरूप भी नहीं है

इसी प्रकार से वह अव्याकृत (अज्ञान) आत्मा से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है। भिन्न तथा अभिन्न उभयरूप भी नहीं है। जैसे– रस्सी में कल्पित सर्प रस्सी से भिन्न भी नहीं है। यदि भिन्न होता तो रस्सी से जुदा दिखता और अभिन्न होता तो रस्सी के दिखने पर भी दिखता। इसलिये वह भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है। भिन्नाभिन्न परस्पर विरोधी होने से उभयरूप हो ही नहीं सकता। क्योंकि रस्सी में सर्प कभी भी भिन्न और अभिन्न उभयरूप से प्रतीत नहीं होता।

अविद्या सावयव, निरवयव एवं उभयरूप नहीं है

इसी प्रकार वह अव्याकृत (अज्ञान) निरवयव भी नहीं है; अर्थात् अवयव (हिस्सा) रहित भी नहीं है। क्योंकि अगर वह निरवयव होता, तो उसका जगत्‌रूपी सावयव साकार परिणाम नहीं होता। इसलिए निरवयव नहीं है।

इसी प्रकार वह अव्याकृत (अज्ञान) सावयव भी नहीं है, क्योंकि सावयव जो होगा, वह कार्यकोटिका ही होगा; मूल कारण नहीं हो सकता है। परस्पर विरोधी होने से निरवयव सावयव उभयरूप भी नहीं हो सकता है।

अज्ञान का विषय, आश्रय कौन? इस प्रसंग में यह एक आवश्यक विचारणीय बात है कि उक्त अनिर्वचनीय, अनुभूयमान (प्रत्यक्ष अनुभव का विषय) एवं सभी अनर्थों का मूल जो अज्ञान है, वह अज्ञान है किसको? अर्थात् अज्ञान का आश्रय कौन है और किसका अज्ञान है? अर्थात् अज्ञान का विषय कौन है; क्योंकि जिस प्रकार से ज्ञान आश्रय और विषयवाला होता है; उसी प्रकार से अज्ञान भी आश्रय और विषय वाला होता है। जैसे– कोई कहता है कि हमको घट का ज्ञान है, तो कहने वाला व्यक्ति घट–ज्ञान का आश्रय होता है और घट, घटज्ञान का विषय होता है। इसी प्रकार कोई कहता है कि हमको घट का ज्ञान नहीं है अर्थात् घट का अज्ञान है, तो कहने वाला व्यक्ति उस घट के अज्ञान का आश्रय हुआ; एवं घट, घट के अज्ञान का विषय हुआ। इसी प्रकार उक्त जो अनिर्वचनीय अज्ञान है, वह भी किसके आश्रय रहता है और किसको विषय करता है? यह एक प्रश्न है।

अज्ञान का विषय ब्रह्म है इस प्रश्न के उत्तर में अज्ञान के विषय के ऊपर विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञान का विषय अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है। क्योंकि उस अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से ही, इस अज्ञान की निवृत्ति होती है। यह तो स्पष्ट है कि जिसके ज्ञान से जिस अज्ञान की निवृत्ति होती है, उस अज्ञान का विषय वही होता है। जैसे– घट के ज्ञान से जिस (घट के) अज्ञान की निवृत्ति होती है, उस अज्ञान का विषय घट ही होता है; अर्थात् घट के ज्ञान से घट का ही अज्ञान निवृत्त होता है। अतः जिस ब्रह्मज्ञान से उक्त अज्ञान की निवृत्ति होती है, उस अज्ञान का विषय ब्रह्म ही है। यह निर्विवाद है।

अज्ञान के आश्रय में दो पक्ष प्रश्न केवल अज्ञान के आश्रय का रह जाता है। अर्थात् अज्ञान का आश्रय कौन है। किसको ब्रह्म का अज्ञान है ? इस प्रश्न के उत्तर में दो पक्ष सामने आते हैं :–

अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है एक पक्ष कहता है कि ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय भी है : क्योंकि अज्ञान के कारण ही ब्रह्म में जीवभाव का आरोप होता है। अतः अज्ञान की (जीव से) पूर्व में स्थिति सिद्धि होती है और जीव–भाव पश्चात् अज्ञान के कारण आरोपित होता है जो अज्ञान का कार्य है, वह अपने कारण–अज्ञान का आश्रय कैसे हो सकता है। क्योंकि, जो आश्रय है, उसकी स्थिति आश्रित से पूर्व ही होनी चाहिए। जीव का अस्तित्व अज्ञान

से ही सिद्ध होता है, अतः जीव अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि अज्ञान से पूर्व जीव है ही नहीं।

अज्ञान का आश्रय जीव है दूसरे पक्ष का कहना यह है कि जीव ही अज्ञान का आश्रय है, ब्रह्म अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ब्रह्म में अज्ञान स्वीकार किया जाय, तो ब्रह्म भी जीव की तरह कर्ता, भोक्ता साँसारिक हो जायेगा। किन्तु ब्रह्म का स्वरूप तो स्वयं प्रकाश सत्–चित्–आनन्द एवं पूर्ण है, उसमें न अज्ञान है, न अज्ञान के कार्य, अहंकारादि हैं। न उसको ज्ञान की आवश्यकता है, वह तो स्वयं ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान–अज्ञान एवं अहंकारादि सब जीव के ही धर्म माने जाते हैं, ब्रह्म के नहीं। ब्रह्म तो स्वभाव से ही नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध एवं नित्य मुक्त है। इससे यही सिद्ध होता है कि अज्ञान का आश्रय जीव ही है, ब्रह्म नहीं।

अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है, इस कथन का तात्पर्य प्रथम पक्ष जो यह कहता है कि ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय है, उसके कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी की सत्ता ही नहीं है। जो कुछ कार्य–कारणात्मक जगत् है, वह ब्रह्म में ही अध्यस्त है। जिस प्रकार से ब्रह्म अज्ञान के कार्य स्थूल, सूक्ष्म जगत् का अधिष्ठान है, इसी प्रकार कारणरूप–अज्ञान का भी ब्रह्म अधिष्ठान है। अतः पक्ष का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म ही अज्ञान का भी अधिष्ठान है।

अज्ञान का आश्रय जीव है, इस कथन का तात्पर्य दूसरा पक्ष जो जीव को अज्ञान का आश्रय बतलाता है, उसका तात्पर्य यह है कि अज्ञान का अभिमान करने वाला जीव ही है। निर्विकल्प एवं निर्विषय ब्रह्म में मै अज्ञानी हूँ, ऐसा अभिमान नहीं है। और जीव यह स्पष्ट रूप में अभिमान करते देखा जाता है, कि मैं अज्ञानी हूँ। अज्ञान का कार्य जो भ्रमरूप कर्तृत्त्व, भोक्तृत्त्व आदिभाव है, उसका अभिमान तो स्पष्टरूप से जीव में है ही। अर्थात् जीव ही अपने को कर्त्ता, भोक्ता मानता है; यह निर्विवाद है। अत: अभिमानी की दृष्टि से जीव को ही अज्ञान का आश्रय बतलाया गया है।

समन्वय उक्त दोनों के तात्पर्य को हृदयंगम करने से दोनों का समन्वय हो जाता है। जैसाकि पंचदशीकार निम्न समन्वय बोधक श्लोक प्रस्तुत करते हैं–

> ''अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः।
> जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम्''॥
>
> पंचदशी (७/४३)

अधिष्ठान की दृष्टि से ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय कहा जाता है और अभिमानी होने के कारण अज्ञान को जीव की अवस्था कहा है। अर्थात् अभिमानी होने के कारण जीव ही अज्ञान का आश्रय है।

अनिर्वचनीय अज्ञान का निर्वचन उक्त अज्ञान को अनिर्वचनीय कथन किया गया। किन्तु जब तक किसी का निर्वचन न किया जाय, तब तक उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। यदि अज्ञान सर्वथा ही अनिर्वचनीय है, अर्थात् उसके बारे में कुछ कह ही नहीं सकते, तो उसके स्वरूप का ज्ञान ही कैसे होगा कि किसको अज्ञान कहते हैं। अतएव इसका निर्वचन (लक्षण) कहते हैं कि केवल ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान द्वारा ह उस अज्ञान को निवृत्ति होती है। इससे एक प्रकार से यह अज्ञान का निर्वचन (लक्षण) हो गया कि जिसकी ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से निवृत्ति हो उसको अज्ञान या अव्याकृत कहते हैं। अतएव आगे कह रहे हैं :—

''किन्तु केवलब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम्''

केवल ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से ही उक्त अज्ञान की निवृत्ति होती है।

कर्म एवं उपासना का ज्ञान के साथ क्रम समुच्चय है सर्व अनर्थो का मूल जो अज्ञान है, उसकी केवल उक्त ज्ञान से ही निवृत्ति होती है। अब प्रश्न यह होता है कि कर्म और उपासना का अज्ञान की निवृत्ति में उपयोग है या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि उपयोग दो प्रकार का होता है:—एक सह उपयोग और दूसरा परम्परया (क्रम) उपयोग। ज्ञान के साथ कर्म और उपासना का सह उपयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति

में केवल ज्ञान का ही उपयोग है। जिस प्रकार अन्धकार की निवृत्ति में केवल प्रकाश का उपयोग होता है; अर्थात् एकमात्र प्रकाश से ही अन्धकार की निवृत्ति होती है। जिस प्रकार अन्धकार की निवृत्ति के लिए प्रकाश अपने सिवाय अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। उसी प्रकार अज्ञान की निवृत्ति के लिए ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। यह अवश्य है कि प्रकाश के प्रकट होने में अन्य साधनों का उपयोग होता है। जैसे—दीपक के प्रकाश प्रकट होने में दिवा, तेल, बाती एवं माचिसादि साधनों की आवश्यकता होती है; इसी प्रकार ज्ञान के प्रकट होने में कर्म उपासना, सत्संग, श्रवणादि साधनों की आवश्यकता होती है। शुभ कर्मरूपी धर्मानुष्ठान से जब अन्तःकरण शुद्ध होता है एवं उपासना के द्वारा अन्तःकरण में स्थिरता प्राप्त हो जाती है, तब श्रवण, मनन, एवं निदिध्यासनरूप अन्तरंग साधनों के योग से ज्ञान प्रकट होता है। इस प्रकार अज्ञान की निवृत्ति या मोक्ष की प्राप्ति में साक्षात् साधन केवल ज्ञान ही है। धर्म उपासनादि परम्परया साधन होते हैं।

तात्पर्य यह है कि कर्म उपासनादि साधनों का उपयोग अवश्य है, परन्तु सह उपयोग न होकर परम्परया ही उपयोग है।

सुषुप्ति इस प्रकार से अनिर्वचनीय अव्याकृत (अज्ञान) के आधिदैविक (समष्टि) स्वरूप का वर्णन करके आध्यात्मिक (व्यष्टि) स्वरूप का वर्णन करते हैं:—

"सर्वप्रकारज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः"

अन्तःकरण की सब प्रकार की वृत्तियों के लीन हो जाने पर

अन्तःकरण की जो कारण अर्थात् बीजरूप से स्थिति है, उसको सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जब संग्रहीत संस्कारों सहित सत्रह तत्त्वों वाला सूक्ष्मशरीर हृदयस्थान स्थित हितानामक नाड़ियों में विशेषरूप से उसी प्रकार प्रविष्ट (लीन) होता है, जिस प्रकार वाज थककर अपने घोंसले में सम्यक प्रकार से लीन हो जाता है। इसी को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। यही सुषुप्ति, व्यष्टि कारण शरीर, अज्ञान एवं अव्याकृत की मुख्य अवस्था है।

अविद्यावृत्ति सभी सविषयक वृत्तियों के उपसंहार (विलीन) हो जाने को सर्व ज्ञानोपसंहार कहते हैं।

सविषयक वृत्तियों के मुख्य तीन भेद होते हैं:– (१) प्रातिभासिक (२) व्यावहारिक (३) पारमार्थिक।

प्रातिभासिक पदार्थों को विषय करने वाली वृत्ति को प्रातिभासिक वृत्ति कहते है और व्यावाहारिक पदार्थों को विषय करने वाली वृत्ति को व्यावहारिक वृत्ति कहते हैं एवं पारमार्थिक ब्रह्म को विषय करने वाले वृत्ति को पारमार्थिक वृत्ति या ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं। इन त्रिविध वृत्तियों के भेद से ज्ञान भी तीन प्रकार का होता है:–

(१) प्रातिभासिक (२) व्यावहारिक (३) पारमार्थिक।

सुषुप्ति अवस्था में उक्त त्रिविध वृत्तियों के अभाव होने से त्रिविध ज्ञान का भी अभाव होता है। इसलिए सुषुप्ति का लक्षण बताते हुए ऊपर कहा गया है कि सर्व प्रकार के ज्ञान का उपसंहार हो जाने पर अन्तःकरण के ज्ञान अर्थात् विद्यावृत्ति के अभाव होने से ही सुषुप्ति अवस्था को अज्ञान या अविद्या वृत्ति कहते हैं। यद्यपि

सुषुप्ति अवस्था में उक्त प्रसिद्ध त्रिविध वृत्तियों में से कोई भी वृत्ति प्रकट रूप में नहीं है, फिर भी वृत्तियों का अस्तित्त्व अवश्य है, क्योंकि वृत्ति नाम है अन्त:करण की अवस्था विशेष का और सुषुप्ति भी अन्त:करण की अवस्था विशेष है। अत: वृत्ति का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, परन्तु वह वृत्ति प्रसिद्ध त्रिविधज्ञानवृत्तियों में से कोई भी नहीं है। इसलिए उसको अविद्या या अज्ञान वृत्ति कहते हैं।

अविद्या वृत्ति कहने का एक कारण यह भी है कि स्वप्न और जाग्रत् में होने वाली भेदभ्रान्ति का बीजरूप भी सुषुप्ति ही है, और यह तो सर्वमान्य है कि जो भ्रान्ति का कारण होता है, उसे अज्ञान कहते हैं। इसीलिए सुषुप्ति अवस्था को अज्ञान अवस्था या व्यष्टि अज्ञान कहते हैं।

''तदुभयाभिमान्यात्मा प्राज्ञ:'' उक्त कारण शरीर (अव्याकृत) एवं सुषुप्ति अवस्था इन दोनों के अभिमानी को प्राज्ञ कहते हैं।

जाग्रत और स्वप्न में जो व्यष्टि स्थूल एवं सूक्ष्म अर्थात् मनोमय से एकता के कारण (विश्व एवं तैजस संज्ञक) जीवभाव को प्राप्त है, वही सुषुप्ति अवस्था में बीज (संस्कार) रूप से व्यष्टि अभिमान के होने से प्राज्ञ नामक जीव कहा जाता है। बीजरूप से कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकटरूप में सुषुप्ति काल में किसी प्रकार का अभिमान नहीं है। फिर भी अज्ञानजनित अभिमान की संस्काररूप से स्थिति अवश्य है। अतएव पुन: जाग्रत अवस्था में पूर्ववत् स्थूल एवं सूक्ष्म में अभिमान कर लेता है। सारांश यह है कि जाग्रत् और स्वप्न की तरह सुषुप्ति अवस्था में भी अज्ञानजनित

अहंकार की स्थिति है। और इसी व्यष्टि अहंकार के कारण इस आत्मा को जीवभाव प्राप्त है। यह अज्ञानजनित जीवभाव तब तक बना रहता है, जब तक व्यष्टि, समष्ट्यात्मक सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म एवं कारण जगत् के अधिष्ठान स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का आत्मरूप से साक्षात्कार नहीं हो जाता।

जब (१) ईश्वरकृपा, गुरुकृपा, शास्त्रकृपा एवं आत्मकृपा के द्वारा सर्वाधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा का आत्मरूप से साक्षात्कार हो जाता है, तब जीवभाव निवृत्त होकर अपने वास्तविक स्वरू परमात्मा में स्थित हो जाता है।

जब तक यह उक्त साक्षात्कार नहीं कर लेता, तब तक पूर्वोक्त जीवभाव में ही स्थित रहता है।

प्राज्ञ और ईश्वर की एकता जीवभाव में रहता हुआ जब वह व्यष्टि कारण शरीर एवं सुषुप्ति अवस्थारूप उपाधि से युक्त होता है, तब वह उस समय प्राज्ञ कहलाता है। यद्यपि प्राज्ञ शब्द मुख्यरूप से व्यष्टि कारणोपाधि युक्त जीव के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है, तथापि यहाँ पर प्राज्ञ की उपाधि कारण शरीर अव्याकृत को बतलाया है। वह अव्याकृत, समष्टि कारणोपाधि है। अतः समष्टि कारणोपाधि वाले ईश्वर एवं प्राज्ञ की एकता है। तात्पय यह है कि जीव और ईश्वर का जो भेद है; वह उपाधिकृत है; अर्थात् उपाधि के भिन्न–भिन्न होने से ही ईश्वर और जीव का भेद सिद्ध होता है। उपाधि जब एक है तब भेद का कोई प्रयोजक न होने के कारण ईश्वर और जीव की स्वभाव से ही एकता होती है। जैसा कि

पहले कह आये हैं कि वस्तुतः स्थूल एवं सूक्ष्म उपाधियों का भी व्यष्टि–समष्टि रूप में भेद नहीं है। केवल भेद की जाग्रत एवं स्वप्न में प्रतीति होती है। वस्तुतः भेद नहीं होता है। सुषुप्ति अवस्था में यह विशेषता है कि कारणोपाधि में पूर्ववत् वस्तुतः भेद तो है ही नहीं; भेद की प्रतीति भी नहीं होती है। जैसे कि जाग्रत एवं स्वप्न में भेद की प्रतीति होती है; इसी दृष्टि से अन्तर्यामी ईश्वर और सुषुप्ति अवस्था अभिमानी जीव दोनों की एकता का बोधक प्राज्ञ–शब्द कहा गया है। अर्थात् प्राज्ञ कहने से ईश्वर एवं जीव दोनों का एक साथ बोध होता है।

(१) टिप्पणी–

ईश्वरकृपा– शास्त्र, गुरु एवं मनुष्य–शरीर आदि ज्ञान के साधनों का संयोग प्राप्त होना एवं अद्वैत में सद्भावना का होना।

गुरुकृपा– श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरू द्वारा अनुभवपूर्ण एवं हृदयग्राही उपदेश का दिया जाना।

शास्त्रकृपा– ब्रह्म और आत्मा के अभेद के बोधक वेदान्त शास्त्र की प्राप्ति।

आत्मकृपा– पूर्णरूचि एवं प्रयत्नपूर्वक तथा सात्विक धारणा से युक्त श्रवण–मनन एवं निदिध्यासन का अभ्यास करके ब्रह्मानुभूति प्राप्त करना।

व्यवहार में जीव और ईश्वर का भेद यद्यपि व्यवहारिक जगत में व्यष्टि एवं समष्टि उपाधि का भेद अनिवार्य है।

क्योंकि, जीव और ईश्वर का भेद व्यवहार में सर्वसम्मत है, सबके अनुभव की बात है कि जीव अपने आप को अल्पज्ञ, अल्प शक्ति, दु:खी—सुखी इत्यादि अनुभव करता है। और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वविदित है। इस प्रकार का भेद बिना समष्टि—व्यष्टि भेद के सम्भव नहीं है। फिर भी प्रस्तुत प्रणवबोध माण्डुक्योपनिषद् की छाया है। माण्डुक्योपनिषद् में व्यष्टि—समष्टि भेद को नगण्य समझकर छोड़ दिया गया है। अर्थात् व्यष्टि समष्टि भेद की चर्चा नहीं की गई है। बल्कि व्यष्टि, समष्टि एवं जीव, ईश्वर को एव समझने का संकेत किया गया है। जैसाकि हम ऊपर वर्णन क चुके हैं। अतएव उसी उपनिषद् शैली का आदर करते हुए, इस प्रणव—बोध में भी विश्व—तैजस—प्राज्ञरूपी जीव की विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वररूपी परमेश्वर से एकता दिखाई गई है।

मकार का उपसंहार

''एतत्त्रयम् मकार:'' अव्याकृतरूप कारणशरीर, सुषुप्ति अवस्था इन दोनों का अभिमानी प्राज्ञ ये तीनों ॐकार की तृतीय मात्रा मकार हैं। इन तीनों को लेकर द्वैत की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये तीनों मकार के अन्तर्गत हैं। अर्थात् ॐकार की एक मकार मात्रा रूप है।

अध्यारोप सम्पूर्ण स्थूल प्रपंच, जाग्रत् अवस्था एवं स्थूल प्रपंच तथा जाग्रत अवस्था का अभिमानी 'विश्व' ये तीनों ही अकार हैं। सम्पूर्ण सूक्ष्म प्रपंच, स्वप्न अवस्था एवं सूक्ष्म प्रपंच तथा स्वप्नावस्था

का अभिमानी 'तैजस' ये तीनों ही 'उकार' हैं। इसी प्रकार कारणोपाधि अव्याकृत, सुषुप्ति अवस्था एवं कारणोपाधि तथा सुषुप्ति अवस्था अभिमानी 'प्राज्ञ' ये तीनों ही मकार हैं। इस प्रकार से अब तक जो अकार, उकार एवं मकार का स्वरूप प्रतिपादन किया है, वह सबका सब अध्यारोप कहलाता है। अर्थात् सब आरोपित है।

अध्यास और अध्यारोप यों तो अध्यास एवं अध्यारोप दोनों ही शब्दों का प्रयोग कल्पित के लिये किया जाता है, तथापि एक दृष्टि से प्रायः इन दोनों में यत्किंचित भेद पाया जाता है। वह यह है कि अध्यास उस भ्रमात्मक कल्पना को कहते हैं, जो बन्धन एवं दुःख का हेतु है एवं जो जीवों के अविद्या जनित कर्म–संस्कारों के निमित्त से होता है। जैसे कि मित्र एवं शत्रु आदि की कल्पना या अपने पराये की कल्पना इत्यादि। अध्यारोप उस शास्त्रीय कल्पना को कहते हैं, जो परमार्थ ज्ञान का साधन होती है; जिससे जीव अविद्या की निवृत्ति करके आत्मा का ब्रह्मरूप से साक्षात्कार करता है जैसे कि ब्रह्म में माया एवं मायाकृत उपाधियों से जीव और ईश्वर इत्यादि की कल्पना। यह कल्पना एवं इसका अपवाद वेदान्त की प्रक्रिया कही जाती है। दूसरे शब्दों में अध्यास अविद्यारूपी कल्पना है और अध्यारोप एवं उसका अपवाद भी विद्यारूपी कल्पना है। क्योंकि, कल्पित का निषेध भी कल्पित ही है।

अपवाद अब अध्यारोप के अनन्तर उसका अपवाद करते हैं। क्योंकि निष्प्रपंच ब्रह्म तत्त्व का अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा ही

प्रतिपादन किया जाता है। जैसाकि प्राचीन आचार्यों ने कहा है :—

''अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चते''।।

तात्पर्य यह है कि माया और माया के कार्य से सर्वथा असंग ब्रह्म का प्रतिपादन माया और उसके कार्यों का निषेध (अपवाद) करके ही हो सकता है। क्योंकि, विधिरूप से जिसका भी प्रतिपादन करेंगे, अर्थात् जो भी मन—वाणी का विषय होगा वह मायामय ही होगा। जिसका निषेध (अपवाद) करना है, उसके स्वरूप का आरोप भी आवश्यक है। अतएव अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया ही ब्रह्म बोध का सर्वश्रेष्ठ प्रकार है।

।। मकार की व्याख्या पूर्ण हुई।।

द्विविध अपवाद

आरोपित या अध्यस्त के निषेध का नाम अपवाद है। निषेध के मुख्य दो प्रकार हैं—(१) कारण से भिन्न कार्य की सत्ता का निषेध जैसे—कारणरूप मिट्टी से कार्यरूप घड़े की सत्ता का निषेध या कारणरूप सुवर्ण की डली से (भिन्न) कार्यरूप आभूषण की सत्ता का निषेध (२) अधिष्ठान से भिन्न अध्यस्त की सत्ता का निषेध जैसे अधिष्ठान रस्सी में अध्यस्त सर्प की रस्सी से भिन्न सत्ता का निषेध या अधिष्ठान मरूमरीचिका में अध्यस्त जल की मरुमरीचिका से भिन्न सत्ता का निषेध। अथवा सुवर्ण की आकृति डली आदि की सुवर्णतत्त्व से भिन्न सत्ता का निषेध।

कारण से भिन्न कार्य की सत्ता का निषेध रूप अपवाद उक्त दो प्रकार के अपवादों में से प्रथम कारण से भिन्न कार्य की सत्ता का निषेध रूप अपवाद कहते हैं :—

''अकार: उकार: उकार: मकार:''

अकार: उकार:—अर्थात् अकार उकार स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि उकार से भिन्न अकार की सत्ता नहीं है। इस बात को समझने के लिए उकार का स्वरूप एवं अकार का स्वरूप दोनों को ही समझ लेना आवश्यक है।

अकार का स्वरूप यह है कि सम्पूर्ण स्थूल प्रपंच, जाग्रत अवस्था एवं दोनों का अभिमानी 'विश्व' इन तीनों को मिलाकर 'अकार' कहते हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण सूक्ष्म प्रपंच, स्वप्न अवस्था एवं इन दोनों का अभिमानी 'तैजस' इन तीनों को मिलाकर 'उकार' कहते हैं।

उकार से भिन्न अकारः की सत्ता का निषेध

सम्पूर्ण सूक्ष्म प्रपंच अर्थात् अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत एवं सत्रह तत्त्वो वाला सूक्ष्म शरीर।

सम्पूर्ण स्थूल प्रपञ्च अर्थात् सूक्ष्म प्रपञ्च के अन्तर्गत अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत पञ्चीकृत होकर स्थूल पञ्चमहाभूत होते हैं एवं स्थूल पञ्चमहाभूत के कार्यरूप चतुर्विध चौरासी लाख एक प्रकार की योनियाँ होती हैं।

इससे स्पष्ट हो गया कि कारणरूप सूक्ष्म प्रपञ्च के अन्तर्गत आये हुए सूक्ष्म पञ्चमहाभूत से इस कार्यरूप स्थूल प्रपंच की भिन्न सत्ता नहीं है।

सूक्ष्म शरीरान्तर्गत जो अन्तःकरण है, उसकी ही जाग्रत एवं स्वप्न अवस्थायें हैं। इससे उकार के अन्तर्गत आया हुआ स्थूल के कारण रूप सूक्ष्म प्रपंच से जाग्रत अवस्था की भिन्न सत्ता सिद्ध नहीं होती।

सूक्ष्म शरीरान्तर्गत जो अन्तःकरण है, उसमें आया हुआ आत्मा का प्रतिबिम्ब, चिदाभास, उपाधि के कारण एवं उसमें अभिमान करने से 'तैजस' कहलाता है। यही तैजस जब जाग्रत

अवस्था एवं स्थूल उपाधि से युक्त होता है, तो यह 'विश्व' कहलाता है। उपाधि की स्वतन्त्र सत्ता न होने से उपाधि–अभिमानी में भेद हो ही नहीं सकता है। अर्थात् स्थूल प्रपञ्च एवं जाग्रतावस्था की सूक्ष्म प्रपञ्च एवं स्वप्नावस्था से भिन्न सत्ता न होने से तैजस से विश्व की भिन्न सत्ता नहीं रह जाती।

इस प्रकार स्थूल प्रपञ्च, जाग्रतावस्था एवं विश्व–रूप अकार की उकार से भिन्न सत्ता नहीं है। इसी दृष्टि से अकार को उकार रूप बतलाया गया है। अर्थात् उकार से भिन्न अकार की सत्ता को न देखना ही कारण से भिन्न कार्य की सत्ता का निषेधरूप अपवाद है।

मकार से भिन्न उकार की सत्ता का निषेध अब कार्य–रूप उकार का भी मकार–रूप कारण में अपवाद करते हैं :–

''उकार: मकार:''

''उकार: मकार:'' अर्थात् उकार–मकार स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि मकार से भिन्न उकार की सत्ता नहीं है। इस बात को समझने के लिए उकार का स्वरूप एवं मकार का स्वरूप दोनों को ही समझ लेना आवश्यक है। उकार का स्वरूप यह है कि सम्पूर्ण सूक्ष्म प्रपञ्च, स्वप्नावस्था एवं इन दोनों का अभिमानी 'तैजस' इन तीनों को मिलाकर उकार कहते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म का कारण अव्याकृत, अर्थात् जिसमें बीज–रूप से सम्पूर्ण सूक्ष्म प्रपञ्च विद्यमान होते हैं। जिस प्रकार से वट–बीज में वट–वृक्ष विद्यमान होता है; उसी प्रकार सम्पूर्ण सूक्ष्म प्रपञ्च अर्थात् अपञ्चीकृत

पञ्चमहाभूत एवं सत्रह तत्त्वों वाला सूक्ष्म शरीर जिसमें विद्यमान होता है, उसको अव्याकृत कहते हैं। यों अव्याकृत शब्द का अर्थ भी अप्रकट होता है; अर्थात् जो विद्यमान होते हुए भी प्रकट रूप में दिखाई न दे। जैसे—मोर जब अपने पंखों को समेट लेता है, तो उसमें विविध रंगों वाले अनेक पंख होने पर भी, वे अलग–अलग प्रकट–रूप में नहीं दिखते, और जब वही पंखों को फैलाता है, तब वे सबके सब अलग–अलग, भिन्न–भिन्न रंगों में, रूपों में दिखाई देने लगते हैं। अथवा जिस प्रकार वटबीज में ही संस्कार रूप से शाखा–पत्रादि सहित सम्पूर्ण वृक्ष अप्रकट रूप से विद्यमान रहता है और वही पृथ्वी, जल आदि के संयोग से वृक्षरूप में प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार अव्याकृत कारण से सूक्ष्म प्रपञ्चरूप–कार्य प्रकट होता है। अत: अव्याकृत कारण से कार्यरूपी सम्पूर्ण सूक्ष्म प्रपञ्च की सत्ता भिन्न नहीं है।

इसी प्रकार मकारान्तर्गत सुषुप्ति अवस्था से भिन्न उकारान्तर्गत स्वप्न की भी भिन्न सत्ता नहीं है। क्योंकि, जो कुछ भी स्वप्न में दिखाई देता है वह बीज रूप से (संस्कार रूप से) सुषुप्ति में विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति अवस्था में लीन हुए अन्त:करण में जो संस्कार विद्यमान होते हैं, उन्ही में से कुछ संस्कारों का विकसितरूप ही स्वप्नावस्था होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि संस्कार किसी प्रकार से कहीं से, किसी भी अवस्था में प्राप्त हों, रहते हैं अन्त:करण में ही। सुषुप्ति में अन्त:करण सभी संस्कारों के सहित बीजरूप से विद्यमान रहता है।

अन्तःकरण से भिन्न संस्कार की स्वतन्त्र सत्ता उसी प्रकार नहीं है, जिस प्रकार जल से भिन्न तरंग की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं कि संस्कार का ही विकसित रूप स्वप्नावस्था है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बीजरूप सुषुप्ति अवस्था से स्वप्नावस्था की भिन्न सत्ता नहीं है।

सुषुप्ति अवस्था में सत्रह तत्त्वों वाले सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत बीजरूप से स्थित (लीनावस्था वाले) अन्तःकरण में आत्मा का आया हुआ प्रतिबिम्ब, चिदाभास उपाधि के कारण एवं उसके अभिमान करने से 'प्राज्ञ' कहलाता है। जैसा कि ऊपर बतला चुके है कि अन्तःकरण की ही बीजावस्था सुषुप्ति है। उस सुषुप्ति अवस्था एवं कारणरूप अव्याकृत इन दोनों के अभिमानी को 'प्राज्ञ' कहते हैं। यही प्राज्ञ जब स्वप्नावस्था एवं सूक्ष्म उपाधि से युक्त होता है, तो यह 'तैजस' कहलाता है। जैसा प्रथम वर्णन कर आये हैं कि उपाधि के भेद से ही उपाधि वाले का भेद होता है। जब उपाधि की भिन्न सत्ता नहीं होती तो उपाधि वाले में भी भेद नहीं रह जाता। अतः अव्याकृत एवं सुषुप्ति अवस्थारूप उपाधि से भिन्न सूक्ष्म प्रपंच एवं स्वप्नावस्था रूप उपाधि की भिन्न सत्ता न होने से प्राज्ञ से तैजस की भिन्न सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकार उकार–मकार रूप ही सिद्ध होता है। अर्थात् मकार से भिन्न उकार की सत्ता को न देखना ही कारण से भिन्न कार्य की सत्ता का निषेध रूप अपवाद है।

अधिष्ठान से भिन्न अध्यस्त की सत्ता का निषेधरूप अपवाद कारण से भिन्न कार्य की सत्ता का निषेधरूप अपवाद कथन के अनन्तर अधिष्ठान से भिन्न अध्यस्त के निषेध रूप अपवाद को बतलाते हैं।

"मकार ओंकार एव"

अर्थात् मकार ओंकार ही है।

मकार के स्वरूप वर्णन में बतला चुके हैं कि कारण अव्याकृत, सुषुप्ति अवस्था एवं कारण में चेतन का प्रतिबिम्ब चिदाभास तथा अव्याकृत एवं सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी प्राज्ञ, इन तीनों को मकार कहते हैं। मकार ओंकार ही है। यह कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त कारण अव्याकृत, सुषुप्ति अवस्था एवं प्राज्ञ इन तीनों की ओंकार स्वरूप अधिष्ठान परब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं हैं। जैसे—सोने की डली एवं चमक की अधिष्ठान सोने से भिन्न सत्ता नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक स्वर्ण तत्त्व में डली रूप आकृति और चमक अध्यस्त है; अर्थात् स्वर्ण तत्त्व से इन दोनों की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी प्रकार परमार्थ सत् परब्रह्म में अव्याकृत कारण अज्ञान, सुषुप्ति अवस्था एवं चिदाभास अध्यस्त हैं, अर्थात् परमार्थ तत्त्व परब्रह्म से इनकी पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

जिस प्रकार स्वर्ण में आकृति कल्पित है, इसी प्रकार ब्रह्म में माया अध्यस्त है। जिस प्रकार स्वर्ण में डली, तार एवं आभूषण

रूप आकृति ब्दलती रहती है; इसी प्रकार माया की प्रतिक्षण अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। जब माया की सभी स्थूल, सूक्ष्म अवस्थायें बीजरूप में स्थित होती हैं, तब उसको कारण अव्याकृत कहते हैं, एवं कारण अव्याकृत की जिस अवस्था में अनुभूति होती है, उस अवस्था को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। पुन: बीजाव्याकृत से सूक्ष्मरूपता को प्राप्त होती है, तब उसको सूक्ष्म जगत् एवं सूक्ष्म जगत् की जिस अवस्था में अनुभूति होती है, उस अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं। इसी प्रकार से जब सूक्ष्म से माया स्थूलरूपता को प्राप्त होती है, तो उसको स्थूल जगत् कहते हैं और उसकी अनुभूति जिस अवस्था में होती है, उस अवस्था को जाग्रत् अवस्था कहतें हैं।

चाहे माया किसी भी अवस्था में अवस्थित हो, ब्रह्म के सत्चित्–आनन्द स्वरूप में किसी भी प्रकार का काई भी अन्तर नहीं आता। वह अपने परमार्थ तत्व में ज्यों का त्यों ही रहता है। जिस प्रकार स्वर्ण की आकृति चाहे डली हो या तार हो या भिन्न–भिन्न प्रकार के जेवर हों; स्वर्ण की पीत वर्ण, स्वर्ण की चमक एवं स्वर्ण की प्रियता ये सबमें ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। सत्–चित्त–आनन्द जो ब्रह्म स्वरूप है, उससे भिन्न माया की किसी भी अवस्था (अकार, उकार, एवं मकार) की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, इस प्रकार जान लेना ही अधिष्ठान से भिन्न अध्यस्त की सत्ता का निषेधरूप अपवाद है।

।। अमात्र वर्णन सम्पूर्ण हुआ।।

बोध और मुक्ति

"ओंकारोऽहमेव"

शब्दार्थ—सर्वाधिष्ठान ब्रह्मस्वरूप ओंकार, अहम्पद लक्ष्यार्थ आत्मा ही है।

व्याख्या—यह बोध हो जाने पर भी कि स्थूल—सूक्ष्म एवं कारणात्मक जगत् एक अद्वितीय, सत्—चित्—आनन्दघन, अधिष्ठान, परब्रह्म परमात्मा में अध्यस्त है। अर्थात परब्रह्म परमात्मा से भिन्न किसी की भी वस्तुतः सत्ता नहीं है। जब तक यह बोध नहीं होता है कि वह सर्वाधिष्ठान परमात्मा 'मैं स्वयं हूँ' तब तक जन्म—मरण, राग—द्वेष पुण्य—पाप, दुःख—सुख आदि द्वन्द्वात्मक बन्धन की निवृत्ति नही होती। अर्थात् उक्त परब्रह्म परमात्मा का आत्मरूप से साक्षात्काररूप ज्ञान ही जीवन मुक्ति एवं विदेह मुक्ति का साधन है।

इस ज्ञानरूप साक्षात्कार का कैसे प्रादुर्भाव होता है, इसे जानने से पहले अज्ञान क्या हैं, इसको जानना चाहिए।

अज्ञान का स्वरूप अपने सत्—चित्—आनन्द स्वरूप का ज्ञान होते हुए भी जिस प्रतिबन्ध के कारण ऐसा स्पष्ट अनुभव नहीं होता है कि 'मैं सत्—चित्—आनन्द स्वरूप हूँ', उस प्रतिबन्धक का नाम अज्ञान, अविद्या, मायादि है।

माया एवं माया के कार्य की व्यावहारिक सत्ता होती है। जिस प्रकार स्वर्ण जब भी दृश्य होगा, तो किसी आकृति को लेकर ही दृश्य होगा। जैसे वह डली के रूप में, तार के रूप में या

आभूषण के रूप में दृश्य होगा, दृश्य होकर ही व्यवहार का विषय बनेगा। स्वयं में कल्पित बिना किसी आकृति के केवल स्वर्ण–तत्त्व न तो दृश्य होता है और न व्यवहार का विषय बनता है। इसी प्रकार विशुद्ध ब्रह्म तत्त्व बिना माया और माया के कार्यरूपी उपाधि के न तो दृश्य होता है औन न व्यवहार का विषय ही बनता है। जब कभी भी ब्रह्म दृश्य होगा माया एवं माया के कार्यरूप अन्तःकरण आदि के रूप में ही होगा एवं व्यवहार का विषय बनेगा। अतएव परमार्थ सत्य ब्रह्म में अध्यस्त माया एवं माया के कार्य कीं व्यवहारिक सत्ता होती है।

माया (अज्ञान) के साथ ही अविद्या वृत्ति में आया हुआ चेतन का प्रतिबिम्ब (चिदाभास) और दृश्य एक साथ सिद्ध होते हैं। जिस ाकार स्वप्न में स्वप्न–पुरुष, स्वप्न–जगत्, स्वप्न की सुख दुखात्मिका वृत्ति एक साथ ही उत्पन्न होती है और नींद खुलने पर स्वप्न–पुरुष, स्वप्न–जगत एवं स्वप्न की सुख–दुखात्मिका वृत्ति एक साथ ही निवृत्त हो जाती है।

अविद्या के मुख्य दो भेद माने जाते हैं :–(१) मूलाविद्या (२) तूलाविद्या।

(१) मूलाविद्या कारणरूपी अविद्या है। जिसका कार्य भूत, भौतिक (पञ्चभूत एवं उनके कार्य) सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रपञ्च है। मूलाविद्या एवं मूलाविद्या के कार्य की व्यवहारिक सत्ता मानी जाती है। क्योंकि जहाँ तक व्यवहार है वहाँ तक मूलाविद्या एवं मूलाविद्या के कार्य की सत्ता है। जहाँ तक मूलाविद्या एवं मूलाविद्या का

कार्य–जगत् है, वहीं तक व्यवहार है। (२) तूलाविद्या कार्य अविद्या है। जिसका कार्य रज्जु में सर्प, मरु मरोचिका का जल और स्वप्न–जगत् आदि सम्पूर्ण प्रातिभासिक जगत् है। तूला विद्या एवं तूलाविद्या के कार्य की प्रातिभासिक सत्ता होती है। क्योंकि, प्रातिभासिक, अर्थात् प्रतीति समकाल ही तूलाविद्या के कार्य (रज्जु में) सर्प आदि की सत्ता होती है।

चूँकि कार्यरूप सम्पूर्ण स्थूल, सूक्ष्म प्रपञ्च कारणमाया से परमार्थ ब्रह्म में अध्यस्त है और कारणमाया भी स्वयं अपने आप से ही उस ब्रह्म में अध्यस्त है। जिस प्रकार से भेद भेद्य को अलग करता है एवं भेद्य से स्वयं को अलग करता है; जैसाकि संक्षेप शारीरककार ने कहा है :–

''भेदं च भेद्यं च भिनत्ति भेदो यथैव भेदान्तरमन्तरेण।
मोहं च कार्यं च विभर्ति मोहस्तथैव मोहान्तरमन्तरेण''।।

(१।५५)

तात्पर्य यह है कि कार्य कारणात्मक सम्पूर्ण मायामय प्रपञ्च युगपत् सिद्ध होते हैं; अर्थात् एक साथ ही ब्रह्म में अध्यस्तकल्पित होते हैं।

कार्य सहित मूलाविद्या एवं तूलाविद्या के अधिष्ठान स्वरूप परब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता होती है। अर्थात् वस्तुतः अधिष्ठान स्वरूप सत्य परब्रह्म परमात्मा ही है। किन्तु व्यवहार और प्रतिभास को लेकर क्रमशः कार्य सहित मूलाविद्या एवं कार्य सहित तूलाविद्या की व्यावहारिक एवं प्रतिभासिक सत्ता कही जाती है। इस तरह

उपरोक्त प्रकार से वेदान्त में तीन सत्ताएँ प्रसिद्ध हैं:– (१) पारमार्थिक सत्ता (२) व्यावहारिक सत्ता (३) प्रातिभासिक सत्ता। तूलाऽविद्या और तूलाऽविद्या का कार्य रज्जु में कल्पित प्रातिभासिक सर्पादि का व्यावहारिक सत्य, रज्जु आदि के ज्ञान से बाध हो जाता है। मूलाऽविद्या का कार्य व्यावहारिक जगत् का उसके अधिष्ठानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का आत्मरूप से साक्षात्कार होने से बाध हो जाता है। इस प्रकार पारमार्थिक सत्ता ही शेष रह जाती है।

त्रिगुणात्मिका माया, जो ब्रह्म की (आत्मा की) शक्ति, ईश्वर की उपाधि, जगत् की कारणरूपा, प्रतिक्षण–परिणामिनी एवं व्यावहारिक ात्तावाली है। जिसके अन्तर्गत अनन्त अन्तःकरण विद्यमान होते हैं। ।त्तत् अन्तःकरणावच्छिन्न अज्ञानोपाधिक जीव कहलाता है, अर्थात् उक्त एक–एक अन्तःकरण के घेरे में आई हुई माया (अविद्या) एक–एक जीव की उपाधि होती है।

चतुर्विध चेतना उक्त उपाधि के कारण ही ब्रह्म (आत्मा) के चार भेद माने जाते हैं। (१) ब्रह्म, (२) कूटस्थ (३) ईश्वर (४) जीव।

जिस प्रकार से आकाश के (१) महाकाश (२) मेघाकाश (३) घटाकाश (४) जलाकाश ये चार भेद होते हैं।

जो आकाश सर्वत्र फैला हुआ है, उसको महाकाश कहते हैं। घट में आये हुए उसी आकाश को घटाकाश कहते हैं। उसी (महाकाश) में जो मेघ है, उस मेघ में महाकाश के प्रतिबिम्ब को मेघाकाश कहते हैं। घट के जल में जो महाकाश का प्रतिबिम्ब है,

उसे जलाकाश कहते है। उसी प्रकार जो सर्वाधिष्ठान चेतन (आत्मा) सर्वत्र व्याप्त है, उसको ब्रह्म कहते हैं। अर्थात् माया रूपी उपाधि का अधिष्ठान चेतन ब्रह्म है।

माया (कारण अविद्या) में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वर कहलाता है; ईश्वरसाक्षी को ब्रह्म कहते हैं। अर्थात् जो ईश्वरसाक्षी है वही ब्रह्म है।

अन्तःकरणरूपी कार्याविद्या में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है, वह जीव कहलाता है; जीवसाक्षी को कूटस्थ कहते हैं।

ईश्वरसाक्षी ब्रह्म और जीवसाक्षी कूटस्थ दोनों एक ही हैं उपाधिभेद से ही भेद माना जाता है; जैसे—महाकाश एवं घटाकाशएक हैं। बादलरूपी कारणमाया का जलरूपी अन्तःकरण कार्य है।

जिस प्रकार अनन्त जलकणों के समूह रूप बादल में आकाश का प्रतिबिम्ब मेघाकाश एक ही होता है, उसी प्रकार अनन्त अन्तःकरण जिसमें बीजरूप से विद्यमान हैं, ऐसी माया में चेतन का प्रतिबिम्ब ईश्वर एक ही है।

जिस प्रकार जल से भरे अनेक घटों में आकाश का प्रतिबिम्ब रूप (घट रूपी उपाधि की अनेकता के कारण) जलाकाश अनेक होते हैं। उसी प्रकार अनन्त अन्तःकरणरूपी उपाधियों में चेतन के प्रतिबिम्ब चिदाभास रूपी जीव अनन्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि समष्टि उपाधि विशिष्ट का नाम ईश्वर एवं व्यष्टि उपाधि विशिष्ट का नाम जीव है। उपाधि के तारतम्य से ही ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् होता है।

ईश्वरसृष्टि मूलाऽविद्या ईश्वर की शक्ति है; जिसके द्वारा वह अपने मायावृत्तिरूप संकल्प से जीवों के कर्मानुसार व्यावहारिक जगत् की रचना करता है। इस व्यावहारिक जगत् की अज्ञात सत्ता कही जाती है। अर्थात् व्यवहार में जिस वस्तु के अज्ञात होने पर भी उसकी विद्यमानता हो उस वस्तु की अज्ञात सत्ता कही जाती है। जैसे–कोई व्यक्ति हिमालय को नहीं जानता है तो भी हिमालय विद्यमान है। यहाँ हिमालय की अज्ञात सत्ता है।

उक्त व्यावहारिकजगत् प्रातिभासिकजगत् का निमित्त होता है।

जीवसृष्टि तूलाविद्या जीव की शक्ति है, जिसके द्वारा वह अपने मनोवृत्तिरूप संकल्प से जीवसृष्टि का निर्माण करता है। जैसे ईश्वरसृष्टि के अन्तर्गत मनुष्य शरीर है; इस मनुष्य शरीर में कोई भाई की कल्पना करता है, कोई पुत्र की, कोई पिता की तो कोई चाचा ताऊ की। कोई उसको अपना मित्र मानता है तो कोई उसे अपना शत्रु मानता है। यह सप्त धातुओं का बना हुआ शरीर ईश्वरसृष्टि है तथा इसमें जो परस्पर भिन्न–भिन्न एवं विरुद्ध कल्पनाएँ हैं, जो मनोमय हैं, वे जीवसृष्टि हैं। यही जीव–सृष्टि जीव के सुख–दु:ख, राग–द्वेष आदि बन्धन का कारण है; और जीवसृष्टि की (मनोवृत्यात्मक होने के कारण) ज्ञातसत्ता कही जाती है। अर्थात् जिस समय उसका ज्ञान होता है, उतने समय के लिए ही वह सत्य है। जैसे–रस्सी में सर्प जितनी देर के लिये प्रतीत होता है, उतनी ही देर तक के लिये उस सर्प की सत्ता है, उतनी देर के लिये ही भय आदि का निर्माण होता है। इसी प्रकार

जीव रचित प्रिय–अप्रिय, अनुकूल–प्रतिकूल या सुख–दुःख की भी ज्ञात सत्ता है; अर्थात् जब तक जीव, ईश्वरसृष्टि में (सुख–दुःख) की कल्पना किये रहता है; तब तक के लिए ही वे प्रतीत होते हैं।

जीवेश्वरसृष्टि परस्पर सापेक्ष है जीवसृष्टि एवं ईश्वरसृष्टि परस्पर सापेक्ष है; क्योंकि ईश्वर जीव के कर्मानुसार सृष्टि करता हैं। जीव ईश्वरसृष्टि में अनुकूल–प्रतिकूल, तेरा–मेरा, आदि की कल्पनारूप जीवसृष्टि का निर्माण करता है। यही जीवसृष्टि कालान्तर में कर्माशयरूप से स्थित हो जाती है और वह कर्माशय सृष्टि में निमित्त होते हैं।

जिसअज्ञान (माया) की उपाधि के कारण चेतन ब्रह्म आत्मा जीवभाव को प्राप्त होता है; उस माया की दो शक्तियाँ हैं–(१) आवरण (२) विक्षेप।

१– आवरण–शक्ति स्वरूप को ढकती है।

२– विक्षेप–शक्ति जगत्‌रूपी रचना करती है।

आवरण शक्ति से ढका हुआ यह जीव अपने सर्वाधिष्ठान आत्मस्वरूप परब्रह्म, परमात्मा, सद्–चित्–आनन्द स्वरूप को स्पष्ट न जानने के कारण शरीर आदि में अहम् बुद्धि कर लेता है। अर्थात् इस स्थूल–सूक्ष्म, देहरूप उपाधि को ही अपना स्वरूप मान लेता है तथा देह के धर्म को अपना धर्म मान लेता है। इस प्रकार बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण और शरीर के संग के कारण आत्म चैतन्य जो इनमें मिथ्या तादात्म्य सम्बन्ध बाँधता है, उससे समस्त बन्धनों का भोक्ता हो जाता है। बुद्धि के साथ एकात्मता के कारण कर्तृत्व और

भोक्तृत्त्व के बन्धन में पड़ता है। इन्द्रियों के साथ एकरूपता होने से विषयों के साथ संयोग, वियोग जन्य बन्धन को प्राप्त होता है। प्राण के साथ तादात्म्य होने से क्षुधा—तृषादि का बन्धन प्राप्त होता है और शरीर अध्यास होने से, जन्म—मरण के बन्धन में पड़ता है। इस प्रकार यह आत्माचित्त की गति आदि धर्मों को अपना धर्म मान लेता है। जब चित्त चलता रहता है, तब अपने को चलता हुआ मान लेता है और जब चित्त स्थिर होता है तो अपने को स्थिर मानता है। इस प्रकार सर्वव्यापक चिदानन्द आत्मा भ्रमवश चित्त को ही अपना स्वरूप मान लेता है, चित्तरूपी उपाधि में पड़ा हुआ जीव रेशम के कीट के समान वासनारूपी तन्तुओं से अपने आपको बाँधा करता है। लिङ्ग शरीर रूपी कल्पित उपाधि के कारण यह जीव यदि निमेष के अर्ध भाग भी स्वरूप से बहिर्मुख हो जाता है, तो देह के तथा मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि के समागम के क्रम से मृगरूप, लतारूप, कीटरूप, देवरूप तथा असुर आदि रूप भी धारण कर लेता है एवं वासना के कारण अनन्त संस्कारों से युक्त जन्म—मरण के चक्र में चकराता रहता है।

आत्मबोध की प्रक्रिया यह जीव संसार चक्र में पड़ा हुआ कभी कहीं भी विश्राम को नहीं प्राप्त करता। यहाँ तक कि कर्मों के फलस्वरूप सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मलोक तक को भले ही प्राप्त कर ले, वहाँ भी उसको पूर्ण विश्रान्ति एवं परम आनन्द की प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि ब्रह्मलोक तक की पुनरावृत्ति होने के कारण उसको पुनः

संसार चक्र में भटकना पड़ता है। अन्त में ईश्वर की अहैतुकी कृपा से एवं जीव के अनन्त पुण्यों के प्रभाव से जब इसको मालूम पड़ जाता है कि इस मायामय जगत् में वस्तुतः कहीं भी आनन्द एवं शान्ति नहीं है; अर्थात् दुःखरूप ही है; तो फिर उधर से मुड़कर नित्य सत्य परमात्मा के अभिमुख[1] होता है। यहीं से उसकी निष्काम उपासना या योगसाधना आरम्भ हो जाती है। ज्यों–ज्यों परमात्मा के स्मरण एवं ध्यान में तल्लीन होता है, त्यों–त्यों संसार के पदार्थों की उपेक्षा होती जाती है। जगत् के प्राणी और पदार्थों से ज्यों–ज्यों मन उपराम होता है, त्यों–त्यों उसका मन शान्त होता चला जाता है। ज्यों–ज्यों विक्षेप समाप्त होता है, त्यों–त्यों एकाग्रता एवं अर्न्मुखता बढ़ती है। ज्यों–ज्यों एकाग्रता एवं अन्तमुर्खता बढ़तीं है, त्यों–त्यों परमानन्द रस की अनुभूति अधिक से अधिक प्रकट होती है।

ज्यों–ज्यों परमानन्द स्वरूप का प्राकट्य होता है, त्यों–त्यों विषयों में जो अत्यन्त सूक्ष्म राग एवं द्वेष हैं, वे निवृत्त होते जाते हैं। पूर्ण परमानन्द रस का प्राकट्य होने पर राग–द्वेष की सर्वथा निवृत्ति होकर परमानन्दघन परब्रह्म परमात्मा से निरन्तर ऐक्यबोध प्रकट होता

टिप्पणी –(१) परमात्मा के अभिमुख होने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मलोक तक की प्राप्ति हो जाने पर भी अतृप्ति एवं अशान्ति बनी रहने के कारण जब उसको स्पष्ट दीख जाता है कि सम्पूर्ण मायामय विषय निःसार एवं दुःखरूप है, तब वह साधक ऐसा दृढ़ निश्चयवाला हो जाता है कि परमात्मा की प्राप्ति में ही परमशान्ति एवं तृप्ति है, अर्थात् परमात्मा को प्राप्त किये बिना कृतकृत्य नहीं हो सकता।

है। उस नित्यसिद्ध एकत्वबोध के प्रकट हो जाने पर कार्य सहित अविद्या भी निवृत्त होकर आत्मा अपने स्वयं प्रकाश सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है; अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। बोध के अनन्तर मैं शरीर नहीं, बल्कि चेतन स्वरूप आत्मा हूँ, ऐसा दृढ़ अपरोक्ष निश्चय होने से अज्ञान जनित मोह सदा के लिये नष्ट हो जाता है। ऐसा वह पुरुष (जीव) जीवन मुक्त कहलाता है। जिसने तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या की निवृत्ति करली है, प्रारब्ध भोग शेष रहने के कारण उसका शरीर जीवित रहता है तथा उससे यथायोग्य व्यवहार भी होता है, फिर भी उसे अज्ञानजन्य सुख या दुःख कुछ भी नहीं होता। जीवनमुक्त का कारण शरीर (अज्ञान) नष्ट हो जाने के कारण, वह दो शरीरों से ही (स्थूल एवं सूक्ष्म) जीवित रहता है। प्रारब्ध भोग जब समाप्त हो जाता है, और जीवन मुक्त का स्थूलशरीर नाश को प्राप्त होता है, तब सूक्ष्मशरीर स्थूल को छोड़कर जैसे ही बाहर निकलता है, वैसे ही आधार के अभाव में नाश को प्राप्त हो जाता है। अपने–अपने तत्त्वों में मिल जाता है। इस प्रकार के जीवनमुक्त पुरुष के लिए ही कहा है, ''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव प्रविलीयन्ते,'' उसके प्राण दूसरे शरीर में प्रवेश नहीं करते, बल्कि बाहर निकलते ही महाप्राण में मिल जाते हैं। यह स्थिति विदेह कैवल्य कहलाती है।

अज्ञानकाल में जब बहिर्मुखी अन्तःकरणवृत्ति चिदाभास से प्रकाशित जगत् के पदार्थों को विषय करती है, तब प्रिय–अप्रिय एवं राग–द्वेष को उत्पन्न करने वाले जगत् की अनुभूति चिदाभास

को होती है, क्योंकि वृत्ति ने इस काल में (अज्ञानकाल में) जड़ पदार्थों को ही विषय किया है।

ज्ञानकाल में अन्तःकरणवृत्ति बाह्य विषय निरपेक्ष, अर्थात् अन्तर्मुख होकर ब्रह्म को विषय करती है, तब चिदाभास स्वयं प्रकाश ब्रह्म से एक होकर स्वरूपानन्द में मग्न होता है। जिस प्रकार दर्पण में आया हुआ सूर्य का प्रतिबम्ब दर्पण टेढ़ा होने पर अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है तथा अलग सा दिखता है और दर्पण बिलकुल सूर्याभिमुख हो जाने पर दर्पण का प्रतिबिम्ब, जिसको दर्पण का सूर्य कहते हैं, वह बिम्बरूप सूर्य से एक हो जाता है। इस अवस्था में दर्पण में अन्य प्रतिबिम्ब नहीं आते हैं, केवल सूर्य ही रह जाता है। इसी प्रकार दर्पणरूपी वृत्ति में चेतन का आया हुआ आभास वृत्ति बहिर्मुख होने पर बाह्य विषयों को प्रकाशित करता है, और परमात्मा से अलग सा भासता है। वृत्ति अन्तर्मुख अर्थात् आत्माभिमुख हो जाने पर वृत्तिस्थित चेतन का आभास बिम्बरूपी साक्षी चेतन से एक हो जाता है, और वृत्ति भी इसी काल आनन्दस्वरूप ब्रह्ममय हो जाती है। इस प्रकार ब्रह्मानुभूति से त्रिपुटी का बाध होकर अधिष्ठान स्वरूप स्वयं प्रकाशपूर्ण आत्मा ही अपने आप में अवस्थित हो जाता है। इस प्रकार से हम देखते है कि मन का बहिर्मुख होकर बाह्य विषयों में रमण करना बन्धन का हेतु है एवं अन्तर्मुख होकर नित्य सिद्ध स्वयं प्रकाश स्वरूप आनन्द में मग्न होना मुक्ति का हेतु है। इसीलिए शास्त्रों ने कहा है –

"मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।

बन्धाय विषयासङ्गिमुक्त्यै निर्विषयं मनः"।। (ब्रह्मविन्दु उ०—२)

"दसवाँ तू है" का द्दष्टान्त

आत्मा सदासत्य, सदाअपरोक्ष, सदा आनन्दस्वरूप है तो उसके प्रति अभाव बुद्धि, उसका अज्ञान एवं उसकी दुःखरूपता कैसे हो सकती है, यह एक प्रश्न है? इस प्रश्न का समाधान 'दशमस्त्वमसि' अर्थात् तू दसवाँ है, इस दृष्टान्त से किया जाता है। दृष्टान्त इस प्रकार है कि दस भोलेभाले बच्चे किसी नदी को पार कर रहे थे। उसमें एक लड़के पर यह जिम्मेदारी थी कि वह दसों की संभाल रखे, कोई नदी में डूबने या बिछुड़ने न पाये। अतः नदी पार करते ही, उस जिम्मेदार लड़के ने शीघ्र ही सब लड़कों को इकट्ठा करके गिनना आरम्भ किया। अपने को भूलकर नौ को ही गिना। सशंकित एवं व्याकुल चित्त उस बच्चे ने पुनः—पुनः नौ लड़कों को ही गिना, एवं दसवाँ नदी में डूब गया इस भ्रान्तिज्ञान से अत्यन्त दुःखी होकर रोने—पीटने लगा। उसको अत्यन्त दुःखी एवं रोते चिल्लाते देखकर किसी दयालु सत्पुरुष द्वारा उसके दुःख का कारण पूछने पर वह रोते हुए बोला— हम सब दस बच्चे नदी पार कर रहे थे; अब नौ ही रह गये हैं, दसवाँ दिखता नहीं, नदी में डूबकर मर गया। यों कहकर वह फूट—फूट कर सिर पीटता हुआ पुनः रोने लगा। दयालु पुरुष उसे अत्यन्त दुःखी देखकर धैर्य बधाता हुआ तथा आश्वासन देता हुआ बोला कि दुःखी मत हो, दसवाँ है। जब उस बच्चे ने कुछ धैर्य बाँधकर, शाँत होते हुए पूँछा

कि दसवाँ कहाँ है ? मुझे जल्दी मिलाओ। दयालु पुरुष को तो प्रश्नकर्ता सहित दस बच्चे दिख ही रहे थे। वह जानता था कि प्रश्नकर्ता दसवें को ढूँढ़ने वाला, स्वयं दसवाँ है। व्याकुल चित्त होने के कारण अपने आप को नहीं गिन रहा है। अतः एक बार पुनः उसको गिनने के लिए आदेश देता है, कि तुम नौ को गिनो, मैं दसवें को मिला दूँगा। जब वह बालक दसवें की प्राप्ति की इच्छा से पुनः नौ को गिनता है, उसके बाद वह सत्पुरुष नौ को ही गिनने वाले उस बालक का कान पकड़कर नौ के समक्ष उसे कर देता है और कहता है कि नौ को ही गिनने वाला दसवाँ तू है। इस वाक्य के श्रवण करते ही, दसवाँ दिखता नहीं है, दसवाँ नहीं है, यह जो भ्रान्ति थी, वह एकदम निवृत्त हो जाती है। स्वयं को दसवाँ जान लेने पर दसवाँ के लिए जो व्याकुल हो रहा था, उसकी सम्पूर्ण व्याकुलता समाप्त हो जाती है, और दसवें की प्राप्ति एवं तृप्ति का अनुभव करता है। तात्पर्य यह है कि 'मैं दसवाँ हूँ', यह ज्ञान होते ही दसवें के वियोग या अभाव की भ्रान्ति से जो कुछ वह दुःख अनुभव कर रहा था, उस दुःख की जड़ समाप्त हो जाती है। इतना अवश्य है कि भ्रान्तिकाल में अत्यन्त दुःखी होकर सिर को इतना उसने पीटा है कि उसके सिर में घाव हो गये हैं। दुःख की जड़ समाप्त हो जाने पर भी वह घाव उसी समय अच्छे नहीं हो जाते हैं। उन्हें ठीक होने में महीनों लग जाते हैं। किन्तु दसवें के ज्ञान से उसके मानसिक दुःख की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है तथा मन में परम तृप्ति का अनुभव करता है। जिस प्रकार दसवाँ दसवें के लिए

सदा विद्यमान, सदा प्रत्यक्ष एवं सदा सुखरूप होने पर भी अपने आपको परोक्ष, अविद्यमान, दुःखरूपता का अनुभव करता है। इसी प्रकार आत्मा के सदा विद्यमान एवं सदा आनन्दरूप होते हुए भी विपरीत अनुभव करता है।

अज्ञान जिस प्रकार दसवाँ नौ को देखकर इतना उनमें तल्लीन हो गया कि अपने आप का भान भूल गया, इसी प्रकार यह सर्वाधिष्ठान स्वयं प्रकाश सत्–चित्–आनन्द स्वरूप आत्मा (१) जाग्रत (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति (४) स्थूल (५) सूक्ष्म (६) कारण (७) विश्व (८) तैजस (९) प्राज्ञ इन नौ को सत्ता स्फूर्ति प्रदान करने वाला होने पर भी अकार आदि मात्रा वाच्य, इन नौ से पृथक अधिष्ठान ॐकार स्वरूप अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता है, यही अज्ञान है।

द्विविध आवरण जिस प्रकार दसवाँ कह रहा था कि दसवाँ नहीं दिखता है और दसवाँ नहीं है इसी प्रकार से आत्मा के लिए यह कहना कि हमको अपना निर्विकार, (सत्–चित्–आनन्द) स्वरूप नहीं दिखता है (अनुभव में नही आता है) यह आभानापादक आवरण है, और ऐसा स्वरूप है ही नहीं, यह मानना असत्वापादक आवरण है।

विक्षेप जिस प्रकार दसवाँ नौ को देखता हुआ भी दसवाँ नदी में मर गया, ऐसा समझता हुआ अत्यन्त दुःख से रोने–पीटने लगता है, इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति

अवस्था एवं इनके अभिमानी विश्व, तैजस, प्राज्ञ इन नौ को ही सत्य मानकर एवं अपना स्वरूप मानकर कर्त्ता, भोक्ता अर्थात् अपने को पुण्य करने वाला, पाप करनेवाला एवं सुखी–दुःखी समझने लग जाता है, यही अज्ञान से होने वाला विक्षेप है।

परोक्षज्ञान जिस प्रकार रो–पीट रहे दसवें को किसी दयालु पुरुष के द्वारा यह उपदेश प्राप्त होता है कि दसवाँ है, दुःखी मत हो, यह वाक्य सुनकर वह दसवाँ का परोक्षरूप ज्ञान प्राप्त करता है; इसी प्रकार पुण्य–पाप कर्मो एवं सुख–दुःख के जाल में फँसे हुए जीव को ईश्वरकृपा से उसके वास्तविक स्वरूप का उपदेश जब सद्गुरु के द्वारा प्राप्त होता है कि आत्मा पुण्य–पाप कर्म एवं सुख–दुःख, राग–द्वेषादि जगत्–जाल से सर्वथा मुक्त एवं परमानन्द स्वरूप है तो यह सुनकर आस्तिक जिज्ञासु के हृदय को एक बहुत बड़ा आश्वासन प्राप्त होता है; इसी का नाम परोक्षज्ञान है।

अपरोक्षज्ञान जिस प्रकार दसवाँ को नौ के गिनने के अनन्तर, सत् पुरुष यह उपदेश देता है कि दसवाँ तू है और यह वाक्य सुनते दसवें को दसवें का आत्मरूप से अपरोक्ष हो जाता है कि मैं दसवाँ हूँ। इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म, कारण, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं विश्व, तैजस, प्राज्ञ इन नौ का ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर श्रुति उपदेश देती है कि 'अकार', 'उकार' एवं 'मकार' स्वरूप इन नौ का अधिष्ठान एवं प्रकाशक सत्–चित्–आनन्द ॐकार स्वरूप आत्मा तू स्वयं है। यही अपरोक्ष साक्षात्कार (ज्ञान) का साधन,

जीवब्रह्म की एकता का बोधक 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों का अर्थात् उपदेश है। जिससे कि 'अहंब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ', यह साक्षात्कार होता है। इसी को अपरोक्षज्ञान कहते हैं।

दुःख की निवृत्ति एवं जीवन—मुक्ति जिस प्रकार तू दसवाँ है, यह सुनकर दसवें को दसवाँ का (अपना) अपरोक्ष साक्षात्कार होता है एवं निज रूप दसवें के साक्षात्कार से अज्ञान जनित दसवाँ 'नहीं दिखता है', और 'नहीं है'; यह आवरण एवं दसवें के मरने से जो रोना—पीटना आदि विक्षेपरूप दुःख था, उसकी निवृत्ति हो जाती है। उक्त दुःख की निवृत्ति हो जाने पर परमशान्ति एवं तृप्ति का अनुभव होता है, इसी प्रकार सर्वाधिष्ठान, सत्—चित्—आनन्द स्वरूप आत्मा का महावाक्य के द्वारा साक्षात्कार होते ही कर्ता, भोक्ता आदि विक्षेपरूप दुःख की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है; यही अपरोक्ष ज्ञान है, इसी अपरोक्षात्मक ज्ञान से शोक की सर्वथा निवृत्ति होती है। शोक की निवृत्ति होने पर परमशान्ति एवं निरंकुश तृप्ति का अनुभव होता है। यही जीवनमुक्ति की अवस्था कही जाती है।

लेशाऽविद्या एवं विदेह मुक्ति जिस प्रकार दसवें को दसवें का ज्ञान होने से मूलतः दुःख की निवृत्ति हो जाने पर भी, जो सिर पीटने से घाव हो गया है, वह धीरे—धीरे भर जाता है; फिर भी घाव काल में उसकी मानसिक शान्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है

और घाव के भर जाने पर अन्दर–बाहर सब प्रकार से स्वस्थ हो जाता है। इसी प्रकार आत्मसाक्षात्कार होते ही मूलतः दुःख की निवृत्ति हो जाने से संचित एवं आगामी कर्मों के भस्म हो जाने पर भी लेशाविद्या के फलस्वरूप प्रारब्ध कर्म शेष रह जाता है; प्रारब्ध कर्म क्षयपर्यन्त यत्किंचित् अनुकूल प्रतिकूल आभास मात्र बना रहता है। अर्थात् जीवन–मुक्त के मन पर उसका प्रभाव नहीं के बराबर होता है। प्रारब्धक्षय के अनन्तर पूर्ण परमानन्द स्वरूप आत्मा में अवस्थितिरूप विदेह कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

उक्त प्रकार दसवें के दृष्टान्त को समझ लेने पर पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान हो जाता है कि जिस प्रकार दसवाँ दसवें के लिए सदाविद्यमान, सदाप्रत्यक्ष एवं नित्यप्राप्त सुखरूप होते हुए भी भ्रान्ति के कारण अविद्यमान, अप्रत्यक्ष एवं दुःखरूप बन गया था तथा जिस प्रकार स्वयं के लिए स्वयं सदा प्रत्यक्ष होते हुए भी पहले दसवें को दसवें का परोक्ष एवं बाद में अपरोक्ष ज्ञान हुआ। इसी प्रकार सदासत्य, सदा अपरोक्ष और सदा आनन्द स्वरूप आत्मा होते हुए भी अज्ञान के कारण आत्मा का अभाव, अज्ञान और दुःखरूपता की अनुभूति होने लगी थी। इसी प्रकार आत्मा स्वयं के लिए स्वयं को सदा प्रत्यक्ष होते हुए भी पहले आत्मा का परोक्ष एवं बाद में अपरोक्ष ज्ञान होता है।

ॐ अपरोक्षज्ञान होने पर ज्ञानी निम्नलिखित प्रकार से अपना अनुभव प्रकट करता है।

ज्ञानी का अनुभव "अहमात्मा साक्षी केवलश्चिन्मात्रस्वरूपः"

'मैं आत्मा साक्षी केवल चिन्मात्र स्वरूप हूँ'।

प्रश्न होता है कि बोध होने के बाद अर्थात् सर्वाधिष्ठान परमात्मा को आत्मरूप से जानने के अनन्तर ज्ञानी का यह मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, मैं खाता–पीता हूँ, इत्यादि शरीरादि उपाधियों को मैं मानकर व्यवहार कैसे होता है; क्योंकि वह देह भाव से ऊपर उठकर परमात्मभाव में स्थित है; अर्थात् परमात्मा को ही अपना स्वरूप जानता है तथा मानता है, और जब तक लेशाऽविद्या के कारण प्रारब्ध की स्थिति है, तब तक ज्ञानी से भी भौतिक व्यवहार तो होते ही हैं। यह भौतिक व्यवहार जिस प्रकार अज्ञानी करता है, उसी प्रकार ज्ञानी भी शरीरादि को मैं मानकर करे तो ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर क्या होगा। क्योंकि बिना शरीरादि को मैं माने, मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ, यह लौकिक व्यवहार बन ही नहीं सकता है। इस प्रश्न का समाधान शास्त्रों में 'मैं' (अहम्) के तीन भेद करके किया गया है।

त्रिविध अहमर्थ एक 'मैं' (अहम्) मुख्य अर्थात् सर्व सामान्य होता है, जिसका अज्ञानी मनुष्य प्रयोग करता है।

दूसरा 'मैं' (अहम्) अमुख्य अर्थात् विशेष होता है, इसके दो प्रकार हैं। जिनका केवल ज्ञानी ही प्रयोग करता है।

अज्ञानियों के बाहुल्य से अज्ञानी प्रयुक्त मैं (अहम्) को मुख्य मैं कहते हैं।

मुख्य अर्थात् सामान्य मैं (अहम्) वह है जिसका जड़–चेतन मिले हुए के लिए अविवेक दशा में अज्ञानी प्रयोग करता है।

अमुख्य अर्थात् विशेष दो प्रकार का मैं (अहम्) है पहला जिसका केवल जड़ उपाधि की दृष्टि से एवं दूसरा जिसका केवल शुद्ध चेतन की दृष्टि से ज्ञानी प्रयोग करता है।

जब ज्ञानी मैं (अहम्) जाता हूँ, इत्यादि शब्द का प्रयोग करता है तो शुद्ध चेतन साक्षी में अध्यस्त शरीरादि की दृष्टि से ही ऐसा कहता है। जब यह कहता है कि मैं ब्रह्म हूँ, तब अधिष्ठान स्वरूप साक्षी चिन्मात्र परमात्मा को लक्ष्य में रखकर ही ऐसा बोलता है। जैसे कि ऊपर के वाक्य में परमात्मा को आत्म स्वरूप अनुभव करने वाला ज्ञानी महापुरूष कह रहा है कि "मैं आत्मा साक्षी केवल चिन्मात्र स्वरूप हूँ"। इससे अब उक्त प्रश्न का समाधान हो जाता है कि प्रारब्ध पर्यन्त ज्ञानी का जो शरीरादि लिए मैं (अहम्) का प्रयोग है, वह अज्ञानियों के मैं (अहम्) के प्रयोग से सर्वथा विलक्षण है। क्योंकि अज्ञानी साक्षी आत्मा को न जानकर उपाधि एवं चेतन के मिले–जुले रूप को 'मैं' समझता है और ज्ञानी लौकिक व्यवहार के प्रसंग में उपाधि को 'मै' कहता है। वही बोध के प्रसंग में केवल साक्षी को 'मै' समझता है एवं उसी दृष्टि से यह कहता है कि "मै आत्मा, साक्षी, केवल, चेतन, स्वरूप, हूँ"।

"नाज्ञानं नापि तत्कार्यम्"

'वस्तुत: मुझमें न अज्ञान है, न अज्ञान का कार्य है'।

तात्पर्य यह है कि अधिष्ठान–स्वरूप सत्–चित्–आनन्द परमात्मा ही अपना निजरूप है। ऐसा बोध होने पर (साक्षात्कार होने पर) (जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है) आत्मा में अध्यस्त अज्ञान एवं अज्ञान का कार्य सम्पूर्ण जगत् वाधित हो जाता है। अर्थात् आभासमात्र रहने पर भी उसमें से सत्बुद्धि निवृत्त हो जाती है। ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला जीवन–मुक्त पुरुष स्पष्ट देखता है कि जो आत्मा सर्वत्र व्याप्त है; वही आत्मा देह में विशेष रूप से प्रकट है। इस प्रकार आत्मा को परमात्मा से अभेद देखता हुआ; कहता है कि मुझ अधिष्ठान स्वरूप में न अज्ञान हे, न अज्ञान का कार्य है।

"किन्तु नित्यबुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावं परमानन्दाद्वयं ब्रह्मैवाहमस्मि अहं ब्रह्मास्मीत्यभेदेनावस्थान समाधि:"।

'किन्तु नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वरूप, परमानन्द स्वरूप, अद्वितीय ब्रह्म ही मैं हूँ। मैं ही ब्रह्म हूँ। इस प्रकार (ब्रह्म से) अभेदरूप से स्थित होना ही समाधि है'।

उपर्युक्त प्रकार से अज्ञान एवं अज्ञान के कार्य से सदा असंग चेतन स्वरूप आत्मा, जीव का वास्तविक स्वरूप है। किन्तु यह परब्रह्म परमात्मा से क्या भिन्न है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए "किन्तु इत्यादि" शब्दों से कह रहे हैं।

परमात्मा के शुद्ध स्वरूप को बतलाकर, एवं जीव का शुद्ध स्वरूप बतलाकर, उस जीव के शुद्धस्वरूप की ब्रह्मरूपता का कथन नित्य इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं–

''आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः''

''अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः'' (गीता—२/२०)

इन श्रुति—स्मृति वाक्यों का आश्रय लेकर नित्य विशेषण के द्वारा अनित्य कार्य से ब्रह्म की एकता का निषेध किया गया है।

''शुद्धमपापविद्धं'' इत्यादि श्रुति का आश्रय लेकर शुद्ध विशेषण के द्वारा यह (आत्मा) कार्य के तादात्म्य से रहित ब्रह्म है, यह कहा गया है।

''प्रज्ञानघन'' इस श्रुति के आधार पर नित्य ज्ञानरूपता का कथन करते हुए, बुद्ध विशेषण के द्वारा ब्रह्म की कारण के साथ एकता का निषेध किया गया है।

''विमुक्तश्च च विमुच्यते'' इस श्रुति का अनुसरण करते हुए मुक्त पद से अविद्या कर्म से परतन्त्रता का निषेध करते हुए ब्रह्म का कारण के साथ में तादात्म्य का निषेध किया गया है।

इस प्रसंग में एकता और तादात्म्य का भेद यह है कि एकता भेद को सहन नहीं करती है, और तादात्म्य किञ्चित् भेद को सहन करता है।

अब एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि उक्त ब्रह्म का इसी प्रकार से प्रपंच की तरह यदि बाध हो जाये, तो फिर ऐसा ब्रह्म कभी भी अभीष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि यदि ब्रह्म प्रपंच से भिन्न है तो उसको ब्रह्म ही नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ब्रह्म नाम है बड़े का, और सबसे बड़ा तो प्रपंच ही है। यदि प्रपंच का और ब्रह्म का अभेद मान लें तो प्रपंच की तरह ब्रह्म भी बाधित होगा।

इसलिए प्रपंच से अभिन्न ब्रह्म को अबाधित कैसे स्वीकार किया जाये। इसके उत्तर में ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'', ''सत्यस्य सत्यं'' इत्यादि श्रुतियों का अनुसंधान करते हुए, ''सत्य स्वभाव'' इस पद से समाधान करते हैं।

इसके बाद यह प्रश्न खड़ा होता है कि ब्रह्म के सत्य होने पर भी उसकी प्राप्ति की इच्छा से प्रवृत्ति नहीं होगी; क्योंकि उसको प्राप्त करके क्या पुरुषार्थ सिद्ध होगा, इसके उत्तर में ''विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म'' ''आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'' इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध से सदा ही परम पुरुषार्थ स्वरूप ब्रह्म की परमानन्द रूपता का कथन ''परमानन्द'' इस विशेषण के द्वारा कर रहे हैं। ब्रह्म के आनन्द के साथ 'परम' यह विशेषण विनाश का एवं सापेक्षता का निषेध करने के लिए है।

अद्वयम् दूसरी बात यह है कि उक्त ब्रह्म द्वैताभावोपलक्षित इष्ट है। क्योंकि अस्थूलादि श्रुतियाँ स्वतः प्रमाणरूप हैं। वस्तुतः जब प्रपंच का सर्वथा अभाव है, तो फिर ब्रह्म प्रपंच से भिन्न है कि अभिन्न, यह कहना ही अयुक्त है। इसी अभिप्राय से ''अद्वयम्'' ऐसा कहा गया है।

ब्रह्मैवाहमस्मि शोधित तत् पदार्थ ईश्वर का अनुवाद करके वाक्य के अर्थ को ''ब्रह्मैवाहमस्मि'' इस वाक्य के द्वारा कथन करते हैं। ब्रह्मैवेति में 'एव' शब्द तादात्म्य अंगीकार प्रयुक्त भेद का निषेध करने के लिए है।

अहंब्रह्मास्मि तत् पदार्थ का अनुवाद करके उसकी त्वं पदार्थरूपता कथन करने के अनन्तर त्वं पदार्थ का अनुवाद करके, उसके तत् पदार्थ रूपता का "अहम् ब्रह्मास्मि" इस महावाक्य द्वारा विधान करते हैं।

समाधि—साधन अब जीव एवं ब्रह्म का परस्पर एक दूसरे के साथ एकरस रूप वाक्यार्थ बोध के लिये उसके साधन स्वरूप समाधि का 'इति अभेदेन अवस्थानम् समाधिः' इस वाक्य के द्वारा कथन करते हैं।

संप्रज्ञातसमाधि पहले कही गई युक्ति से प्रणव स्वरूप के अर्थ का अनुसंधान पूर्वक एकरस वस्तु मात्र स्वरूप में चित्त का तदाकार वृत्ति शेष रूप से स्थित होने को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जैसा कि कहा भी है :—

"ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं बिना।
संप्रज्ञातसमाधिः स्यात् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः"।।

अर्थात् ध्यानाभ्यास के प्रकर्ष से अहंकार से रहित ब्रह्माकार मनोवृत्ति—प्रवाह को सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

असंप्रज्ञातसमाधि वृत्ति भी ब्रह्म मात्र रूप से उपसंग्रहीत होकर वृत्ति वाले चित्त का यत्नपूर्वक केवल आत्मतत्त्व रूप से स्थित होना असम्प्रज्ञात समाधि है, जैसा कि कहा गया है—

"मनसो वृत्तिशून्यब्रह्माकारतयास्थितिः।

याऽसम्प्रज्ञातनामाऽसौ समाधिरभिधीयते''।।

अर्थात् वृत्ति से रहित चित्त का जो ब्रह्मरूप से स्थित होना है; उसी को असम्प्रज्ञात् समाधि कहते हैं। समाधि और सुषुप्ति में विशेष अन्तर यह है कि सुषुप्ति स्वाभाविक होती है और समाधि प्रयत्न पूर्वक प्राप्त होती है। दूसरी बात यह है कि सुषुप्ति में चित्त कारणरूप से स्थित होता है और समाधि में तो कार्यकारण सम्बन्ध से रहित वस्तु (ब्रह्म) मात्ररूप से चित्त की स्थिति होती है।

साधन उक्त समाधि को साधनरूप इसलिए कहते है क्योंकि चित्त में ब्रह्माकारता के संस्कार विशेष को स्वीकार किया जाता है।

(दृष्टान्त) स्वर्ण को स्वर्ण तत्त्व का बोध तात्पर्य यह है कि मान लो जिस प्रकार स्वर्ण को स्वर्णतत्त्व का बोध हो जाने पर वह अनुभव करता है कि चाहे मुझमें कितने भी गहनों की कल्पना रहे; मै अपने तत्त्वरूप में ज्यों का त्यों हूँ। किसी कङ्गन आदि के बनने से मैं बनता नहीं एवं किसी कङ्गन आदि के टूटने से मैं टूटता नहीं। मैं अपने तत्त्वस्वरूप में नित्य हूँ। किसी गहने के कुरूप–सुरूप या अच्छा–बुरा होने का प्रभाव मुझ पर कुछ नहीं पड़ता। मैं सदा शुद्ध हूँ। मैं मुकुट के रूप में मनुष्य के सिर पर या कंगन के रूप में हाथ में, हार के रूप में गलें में या किसी राजा–महाराजा का सिंहासन बना हूँ। चाहे मिट्टी में ही क्यों न दबा हूँ; मैं सदा स्वर्ण हूँ। मुझ पर अन्य पदार्थो का कुछ भी असर नहीं, मैं सदा अपने स्वरूप में चमकता हुआ स्वर्ण ही हूँ। अपने

तत्त्वस्वरूप को देखते हुए; वह स्वर्ण यह अनुभव करता है कि अच्छी–बुरी आकृतियों की अच्छाई–बुराई एवं बनने–बिगड़ने आदि से मेरा स्वरूप सर्वथा एवं सर्वदा मुक्त है। मुझमें कल्पित अनेक मिथ्या आकृतियों में मेरा स्वरूप स्वभाव से ही सत्य है। अतएव मैं अपने स्वरूप में सब प्रकार के विकारों एवं दुःखों से रहित परमानन्द स्वरूप हूँ। मैं कल्पित आकार–प्रकार में एक अद्वितीय स्वर्ण तत्त्व ही हूँ। मैं ही स्वर्ण तत्त्व हूँ।

(दार्ष्टान्त) जीव को परमतत्त्व का बोध इसी प्रकार सम्पूर्ण कार्यकारणात्मकजगत्, जीव एवं ईश्वर का परम तत्त्व, परमात्मा का आत्मरूप से साक्षात्कार हो जाने पर जीवन–मुक्त पुरुष यह अनुभव करता है कि मैं सदा नित्य हूँ। इस शरीर के पैदा होने एवं नष्ट हो जाने पर न मैं जन्मता हूँ न मैं मरता हूँ। शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि धर्मो से रहित मैं सदा शुद्ध हूँ और सम्पूर्ण अनात्म जड़ वर्ग का साक्षी एवं प्रकाशक होने से मैं सदा बुद्ध (चेतन स्वरूप) हूँ। इन शरीर आदि उपाधियों के जन्म, मरण आदि विकारों एवं राग–द्वेष आदि धर्मो का मुझसें कुछ भी सम्बन्ध न होने से मैं इनसे सदा मुक्त हूँ। यह सम्पूर्ण शरीर आदि उपाधियाँ मुझमें अध्यस्त होने से मिथ्या हैं और इन सबका अधिष्ठान–स्वरूप होने के कारण स्वभाव से ही मैं सत्य हूँ। सब प्रकार के दुःख और विकारों से रहित मैं परम (नित्य) आनन्द स्वरूप हूँ। वस्तुतः मुझ परमार्थ तत्त्व स्वरूप में द्वैत प्रपंच की मुझसे

भिन्न सत्ता न होने के कारण मैं अद्वितीय हूँ। ब्रह्म ही मैं हूँ। स्वयं प्रकाश मैं ही अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म हूँ।

तत्त्व ज्ञान ही सच्ची समाधि है इस प्रकार जीवन मुक्त पुरुष का ब्रह्म से सर्वथा अभेदरूप से अवस्थित होने का नाम समाधि है। इसलिये उपनिषदों ने समाधि की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि सम्पूर्ण वासनारूपी शुष्क तृणढेर को प्रज्ज्वलित अग्नि की तरह भस्म कर देने वाला जो तत्त्व का साक्षात्कार है, उसी को समाधि शब्द से ब्रह्मवेत्ताओं ने घोषित किया है। केवल आँख मूँदकर चुप लगा जाना या जड़ भाव को प्राप्त हो जाना समाधि नहीं है।

''तत्त्वावबोधएवासौ, वासनातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन नतु तूष्णीमवस्थितिः''॥ (महोपनिषर्द–४–१२)

परम आत्मा साक्षात् अपरोक्ष है

''अयमात्मा ब्रह्म, इत्यादिश्रुतिभ्यः'' (माण्डू –२)

यह (साक्षात् अपरोक्ष) आत्मा ही ब्रह्म है, इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उक्त प्रकार से आत्मा और ब्रह्म की एकता सिद्ध होती है। ''अयमात्मा ब्रह्म'' इस महावाक्य में जो अयम् (यह) शब्द है वह आत्मा की साक्षात् अपरोक्षता को बतलाता है; अर्थात् आत्मा वस्तुतः न तो परोक्ष है, न प्रत्यक्ष है, न अपरोक्ष। किन्तु साक्षात् अपरोक्ष है। यह साक्षात् अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है–जैसा कि वृहदारण्यक श्रुति का वचन है–

"यत् साक्षात् अपरोक्षात् ब्रह्म" (वृ०—३/४/१)
अर्थात् जो साक्षात् अपरोक्ष आत्मा है, वही ब्रह्म है।

चार प्रकार का ज्ञान भाव यह है कि ज्ञान मुख्य रूप से चार प्रकार का होता है— (१) परोक्ष, (२) प्रत्यक्ष (३) अपरोक्ष (४) साक्षात् अपरोक्ष।

(१) परोक्षज्ञान उसको कहते हैं, जो ज्ञान केवल सुनकर होता है एवं जिसका विषय परोक्ष अर्थात् इन्द्रिय से साक्षात् सम्बन्धित नहीं होता है।

(२) प्रत्यक्षज्ञान उसे कहते हैं, जिसके विषय का इन्द्रियों से साक्षात् सम्बन्ध होता है।

(३) अपरोक्षज्ञान उसे कहते हैं, जिसके विषय का शब्द एवं इन्द्रिय निरपेक्ष केवल साक्षी आत्मा से ज्ञान होता है।

(४) साक्षात्अपरोक्षज्ञान वह है, जिसका विषय शब्द—इन्द्रिय आदि निरपेक्ष स्वयं प्रकाशित होता है।

चतुर्विध ज्ञान की व्याख्या जैसे किसी व्यक्ति ने सुना कि हिमालय में भगवान् बद्रीनाथ का मंदिर है। यह सुनकर जो हिमालय में स्थित बद्रीनाथ का ज्ञान हुआ; वह परोक्षज्ञान हुआ। क्योंकि, वह जान तो गया कि हिमालय में बद्रीनाथ का मंदिर है; किन्तु उसको अभी बद्रीनाथ का मन्दिर अपनी आंखों से दिखा नहीं है। बाद में हिमालय पहुंचकर जब वह बद्रीनाथ का दर्शन करता है, उस समय उसको बद्रीनाथ का प्रत्यक्षज्ञान होता है। क्योंकि, इस

ज्ञान के विषय से नेत्र–इन्द्रिय का साक्षात् सम्बन्ध होकर यह ज्ञान हुआ। उसके बाद उस मनुष्य के हृदय में बद्रीनाथ के दर्शन से जो एक सात्त्विक आनन्द सुख की अनुभूति होती है और कहता है कि बड़ा अच्छा दर्शन हुआ; बड़ा आनन्द आया; यात्रा सफल हो गई। इस सुख का ज्ञान शब्द निरपेक्ष एवं नेत्रादि इन्द्रिय निरपेक्ष केवल साक्षी आत्मा से हुआ है। क्योंकि जो यह सुखरूपी विषय है, वह बाह्य न होते हुए भी आत्मा से साक्षात् अनुभूयमान है। उस सात्विक सुख के साक्षी आत्मा को वह जानता है; क्योंकि जब उससे कोई पूँछता है कि तुमको सुख मिला, यह किससे जाना; वह कहता है कि बाह ! यह भी कोई पूँछने की बात है, जो कुछ भी सुख–दुःख होता है, वह तो स्वयं साक्षीरूपी आत्मा से मालूम होता है। कोई प्रश्न करे कि सुख–दुःख को तुमने साक्षी आत्मा से जाना। किन्तु, सुख–दुःख के साक्षी आत्मा को तुमने किससे जाना, तो उसका उत्तर वह अन्तर्मुख साधक यही देता है कि साक्षी आत्मा तो स्वयं प्रकाशित होता है। उसको जानने के लिए शब्द, इन्द्रिय आदि किसी की भी आवश्यकता नहीं। बिना किसी ज्ञान के साधनों के जो स्वयं प्रकाश आत्मा का ज्ञान है, इसी ज्ञान को साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं। जिसका साक्षात्अपरोक्षज्ञान हो रहा है, वह आत्मा ही ब्रह्म है।

सबका एकता में ही तात्पर्य सम्पूर्ण वेद एवं वेद का अनुसरण करने वाले आर्ष ग्रन्थ, सभी साक्षात् या परम्परा से ब्रह्म

और आत्मा की एकता का ही प्रतिपादन करते हैं।

प्रणव—बोध का उपसंहार

"इति ॐ"

इस प्रकार से ॐ अर्थात् प्रणव की व्याख्या सम्पूर्ण हुई। इस व्याख्या के द्वारा आत्मा का प्रणव स्वरूप सर्वाधिष्ठान परमात्मा रूप से बोध कराया गया है। इसलिए इसका नाम प्रणव—बोध है।

।। यह प्रणव बोध शास्त्र सम्पूर्ण हुआ।।

सत्प्रेमसाधनाट्रस्ट, त्यागमूर्तिजनकल्याणट्रस्ट एवं देवेश्वर जनकल्याणट्रस्ट (साधना सदन) के संस्थापक एवं परमाध्यक्ष त्यागमूर्ति महामण्डलेश्वर श्री स्वामी गणेशानन्दपुरी जी महाराज द्वारा संचालित प्रमुख शुभ प्रवृत्तियाँ :—

१— अन्नक्षेत्र—प्रति दिन साधु, महात्माओं, ब्राह्मण विद्यार्थियों भिक्षुकों एवं अभ्यागतों आदि के लिए अल्पाहार व भोजन आदि की व्यवस्था।

२— चिकित्सालय—आश्रमस्थ एवं सार्वजनिक रुग्णों के लिए निःशुल्क चिकित्सा (औषधि आदि की व्यवस्था)।

३— विद्यालय—वेद शास्त्र, संस्कृत, धर्मशास्त्र एवं वैदिक सनातन धर्म के उत्थान के लिए विद्वान अध्यापकों द्वारा ब्राह्मण, विद्यार्थियों ब्रह्मचारियों एवं अन्य जिज्ञासुओं के लिए अध्ययन की निःशुल्क व्यवस्था।

४— गौशाला—"गावो विश्वस्य मातरः" को दृष्टिगत रखते हुए एक "अनादिशक्ति गौशाला" का संचालन संप्रति गौशाला में लगभग सत्तर (७०) गौ माता व गौवंश की सेवा हो रही है।

५— सत्संग—स्वाध्याय—जिज्ञासु, सत्संगियों के लिए सतत् निर्वाधगति से सत्संग स्वाध्याय चलता रहे जो कि आश्रम का मूल उद्देश्य है पूर्णतः व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत ज्ञानयज्ञ में प्रस्थानत्रयी अर्थात् ब्रह्मसूत्र, गीता, दश उपनिषद् की आद्योपान्त व्याख्या तथा भागवत सप्ताह आदि अनेकों कार्यक्रम संचालित होते हैं।

६– आवास–महात्माओं एवं भक्तों के लिए आवास की पृथक–पृथक व्यवस्था की गई है। समस्त सन्त महात्माओं, ब्रह्मचारियों के लिए साधनासदन में निवास की व्यवस्था है एवं भक्तों, ब्राह्मणों, विद्यार्थियों के लिए आश्रम के अंग स्वरूप ''लोकेश्वरधाम'' 'साधकनिवास' 'देवेश्वरधाम' एवं नव निर्मित अम्बिकासदन में व्यवस्था है।

७– मण्डप–सभी कार्यो की सुव्यवस्था के लिए पृथक–पृथक ३ मण्डप निर्मित हैं (क) सत्संग मण्डप (ख) अद्वैत मण्डप (ग) यज्ञ मण्डप, इन मण्डपों में दैनिक स्वाध्याय एवं शंकर जयन्ती, गीता जयन्ती आदि बड़े आयोजनों के लिए पर्याप्त स्थान है।

इसके अतिरिक्त वृहद् यज्ञ अनुष्ठानों के लिए २ यज्ञ मण्डपों की भी व्यवस्था है।

८– पुस्तकालय–आश्रम में एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना की गई है जिसमें वेद शास्त्र, पुराण तथा धर्म ग्रन्थ आदि की अनेकों पुस्तकें उपलब्ध हैं।

९– मन्दिर–हिन्दू धर्म के प्रतीक स्वरूप आश्रम में सब ग्यारह मन्दिर हैं। इनमें से एक मन्दिर अनादिशक्ति गौशाला में एवं एक गोपेश्वर में स्थित है, शेष साधना सदन में हैं, इनमें मुख्य सभी देवी देवताओं की भव्य विशाल मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं।

१०– स्नान घाट–आश्रम में गंगा तट पर चार घाट हैं। (क) देवेश्वर घाट (ख) महात्माघाट (ग) लोकेश्वरघाट (घ) जनकल्याणघाट जिसमें महात्माओं, गृहस्थों एवं महिलाओं के पृथक–पृथक घाट हैं।

—: नियम :—

१— आस्तिक सदाचारी एवं भक्तिभाव वाले व्यक्ति ही आश्रम में निवास के अधिकारी हैं।

२— ऐसे साधक भक्त जिन्होंने आश्रम के किसी भी अंग के निर्माण कार्य में सहयोग किया है, स्वेच्छा पूर्वक जब तक चाहें आश्रम के नियमों का पालन करते हुए निवास कर सकते हैं।

३— आश्रम में रहने वाला कोई भी व्यक्ति ताला लगाकर एक दिन से अधिक बाहर नहीं रह सकता।

४— आश्रम में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रातः एवं सायं की आरती, स्तुति, महिम्नपाठ, विष्णुसहस्त्रनामपाठ, स्वाध्याय सत्संग आदि में भाग लेना चाहिए।

५— आश्रम में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को स्वच्छता, पवित्रता एवं शान्ति का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये।

प्रणव—बोध सम्पन्न ही मुनि है

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ॐकारो विदितोयेन स मुनिर्नेतरो जनः॥

जिसने मात्राहीन, अनन्त मात्रा वाले, द्वैत के उपशम स्थान और मंगलमय ॐकार को जाना है, वही मुनि है, और कोई पुरुष नहीं।

अमात्र तुरीय ॐकार है। जिससे मान किया जाय, उसे 'मात्रा' अर्थात् परिच्छिति' कहते हैं। वह मात्रा जिसकी अनन्त हो, उसे 'अनन्त मात्र' (निस्सीम) कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि इसकी इयत्ता (इतना ही) का परिच्छेद नहीं किया जा सकता। सम्पूर्ण द्वैत का उपशमस्थान होने के कारण ही वह शिव (मङ्गलमय) है। इस प्रकार व्याख्या किया हुआ ॐकार जिसने जाना है, वही परमार्थ तत्त्व का मनन करने वाला होने से 'मुनि' है; दूसरा पुरुष शास्त्रज्ञ होने पर भी नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है।

मुद्रक – साधना प्रिंटिंग प्रेस कनखल, हरिद्वार
फोन : 414672